आप्तमीमांसा-प्रवचन

[चतुर्थ भाग]

●

प्रवक्ता :

[अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०५ मनोहर जी वर्णी महाराज]

●

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥ ७ ॥

●

आप्तमीमांसा ग्रन्थकी रचनाकी आवश्यकता—यह समन्तभद्राचार्य द्वारा रचित आप्तमीमांसा नामक ग्रन्थ है । इस ग्रन्थके रचनेकी समन्तभद्राचार्यको आवश्यकता क्यों जची इसका कारण यह है कि यह संसार दुःखमय है । अनेक योनियों में यह जीव अज्ञानसे दुःखी होता हुआ जन्ममरण कर रहा है । एक इन्द्रिय दो इंद्रिय आदिक जीव बड़े असहाय हैं । इनका कोई रक्षक नहीं है । पञ्चेन्द्रिय भी हुए और पशु पक्षी जैसे पर्याप्तक भी हुए तो भी देखा जा रहा है कि इन्हें लोग बड़ी निर्ममता से प्राणविहीन कर देते हैं । पक्षियोंके दोनों पैर बांध देते, अब वे बेचारे स्थावरोंकी तरह पड़े हुए हैं कहीं भाग नहीं सकते, जीवित प्राणियोंपर छुरी, तलवार आदि चला दिये जाते हैं । कितना घोर दुःख है, जिनका वर्णन कोई जिह्वासे नहीं कर सकता । नरक आदिकके दुःख तो असह्य ही हैं । तो यह संसार दुःखमय है । इन सब दुःखोंसे छूटना तभी बन सकता है जब कि यह जीव जन्ममरणसे मुक्त हो जाय । संसारके संकटोंसे छुटकारा पा लेनेका उपाय कर लेना इस मनुष्यभवमें अति आवश्यक है । सार भी है कुछ तो यही एकमात्र सार है इस मनुष्यभवमें कि संसार संकटोंसे मुक्ति पानेका उपाय बनालें । जब कोई विवेकी संसार संकटोंसे छूटनेके उपायमें चलना चाहता है तो उसे कोई ऐसा उत्कृष्ट शासन मिलना चाहिए जिसमें अपने आत्माको शासित करके निर्विकल्प स्थिति प्राप्त कर सके । तो ऐसा शासन कौन हो सकता है उसकी परीक्षा भी आवश्यक है । और उत्कृष्ट शासन नहीं हो सकता है जिसका कि मूलप्रणेता निर्दोष और सर्वज्ञ हो । जिसमें दोष हो वह यथार्थ शासन कैसे बता सकता है ? जो अल्पज्ञ हो वह भी यथार्थ बात कैसे निर्बाध कह सकता है ? तो

उत्कृष्ट शासनपर चलनेके लिये निर्णय करना आवश्यक हो गया कि कौन शासन उत्कृष्ट है जिसका सहारा लेकर यह आत्मा संकटोंसे मुक्ति पा ले। और उसके निर्णय के लिए आप्तके निर्णयकी अति आवश्यकता होती है। सो आप्तनिर्णयके लिये इस ग्रन्थ की रचना करना आवश्यक प्रतीत हुआ। यहाँ उस ही आप्तकी मीमांसा की जा रही है।

प्रकृतकारिकाका पूर्वनिदिष्ट सम्बन्ध एवं अर्थ—कोई इस कारण आप्त महान नहीं हो सकता कि उसके पास बाहरी चमत्कार हो रहे हों। इससे भी कोई महान नहीं हो सकता कि शरीरमें निर्मलता निर्दोषताके अतिशय पाये जा रहे हों, इस कारण भी कोई महान नहीं हो सकता कि उसने शासन चलाया है, तीर्थ चलाया है पर हाँ तीर्थ जिसने उत्तम चलाया हो, जो संसारी जीवोंको संसार सागरके किनारे पहुँचा सके वह कोई गुरु हो सकता है। पर ऐसा आप्त कौन है ? इस सम्बन्धमें पहिले कुछ वर्णन आया है। वही आप्त हो सकता है जिसमें दोष एक भी न हो और ज्ञान परिपूर्ण प्रकट हो। क्या कोई जीव पूर्णतया निर्दोष हो सकता है अथवा कोई आत्मा पूर्णतया सर्वज्ञ हो सकता है इस विषयमें अभी विस्तारसे वर्णन किया गया है। उस ही प्रसंगमें उसकी सिद्धिके बाद जब यह प्रश्न होता है कि हाँ सर्वज्ञ तो कोई है लेकिन वह सर्वज्ञ वीतराग अरहंत ही है, यह कैसे निश्चय किया जा सकता है। इसके उत्तर में कहा गया कि अरहंत ही निर्दोष और सर्वज्ञ हैं, क्योंकि उनके वचन युक्ति और शासनसे अविरुद्ध हैं। कैसे अविरुद्ध हैं इस विषयमें संकेत दिया कि आर्हत शासन, अनेकान्त शासन प्रसिद्ध अप्रसिद्ध किसी भी बातसे बाधित नहीं होता है। बल्कि एकान्तवादियोंके शासन विरुद्ध होते हैं। तो इस कारिकामें इस बातको कहा जा रहा है कि एकान्तवादियोंका शासन कैसे बाधित है जिससे कि यह परखा जा सके कि अनेकान्त शासन अबाधित है. उसके उत्तरमें यह कारिका अवतरित हुई है। कारिका का अर्थ है कि तुम्हारे मतरूपी अमृतसे बाह्य जो सर्वथा एकान्तवादी जन हैं जो कि मैं आप्त हूं, मैं आप्त हूं इस प्रकारके अभिमानसे दग्ध हैं उन एकान्तवादियोंका अपना अपना अभिमत एकान्त तत्त्व प्रत्यक्षसे बाधित होता है।

प्रकृत कारिकाका शब्दार्थपूर्वक भावार्थ—हे प्रभो ! आपका मत है अनेकान्तात्मक वस्तु और उस वस्तुका ज्ञान वही अमृत है। अनेकान्तात्मक वस्तुका सम्यग्ज्ञान अमृत क्यों है कि यह ज्ञान अमृतका कारण है। अमृत नाम है मोक्षका। जो मरे नहीं, जिसका मरण नहीं, जिसका कभी विनाश नहीं उसको अमृत कहते हैं। लोग अमृतके सम्बन्धमें कुछसे कुछ कल्पनायें किया करते हैं। होगा कोई अमृत पानी रसायन अथवा आम्रादिक फल जैसा। लेकिन, वह अमृत क्या है ? पौद्गलिक परिणमन है तो स्वयं विनाशीक है, और उसके भक्षणसे पर्यायमें क्या अमरता आयगी ? अमृत तो वास्तवमें मोक्षतत्त्व है जिसका कभी विनाश नहीं होता, उस अमृतस्वरूप मोक्षका

कारण है सम्यक् बोध। इसलिए इस शासनको, इस ज्ञानको अमृत कहा गया है। तो ज्ञान क्यों अमृत है ? मोक्षका कारण होनेसे, सर्वथा बाधारहित होनेसे, और जो इस ज्ञानको प्राप्त कर लेता है उसको आत्मसन्तोषका करने वाला है। इस कारण यह सम्यग्ज्ञान अमृत है। उससे जो बाह्य लोक हैं सर्वथा एकान्त और सर्वथा एकान्तवादके अभिप्राय वाले पुरुष हैं वे आप्तपनेके अभिमानसे दग्ध ही हैं वास्तवमें वे आप्त नहीं हैं क्योंकि विसम्वादक हैं अपने आपके ही पूर्वापर कथनमें विसम्वाद विरोध पड़ा हुआ है सो वस्तुतः तो वे अनाप्त हैं लेकिन स्वयं ऐसा अभिप्राय रखते हैं देव, हम हैं आप्त, हम हैं भगवान. इस तरहके अभिमानसे वह दग्ध हैं। जले हुए हैं। जैसे कोई जली हुई चीज बेकार है, सारहीन है, उसकी तरह कहनेका प्रयोजन यहाँ अनर्थकतासे है और दग्ध शब्द इसी कारण उपचरित समझना। वे आप्तके अभिमानसे अपने स्वरूपमें च्युत हो गए हैं। स्वरूप तो आप्तका है निर्दोषता और सर्वज्ञता। जो आत्मा निर्दोष है और सर्वज्ञ है वही तो देव है, वही आप्त है। सो इस प्रकारकी आप्तता तो नहीं है. लेकिन हम आप्त हैं इस प्रकारके अभिमानसे दग्ध हैं। ऐसा एकान्तवादियोंका अपना माना हुआ शासन प्रत्यक्षसे बाधित है।

"स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते" इस कारिकांशका भाव—अनेकान्तात्मक वस्तुका साक्षात्कार कर लेना और समस्त अन्तस्तत्त्व और बहिस्तत्त्वका जैसा स्वरूप है तैसा बोध हो जाना, सकल संसारका साक्षीभूत होना वह सब विपक्षमें नहीं है, विपक्ष तो प्रत्यक्षसे विरुद्ध है। जो एकान्तवाद है, जो अन्तस्तत्त्व, बहिस्तत्त्वके यथार्थ निरूपण नहीं हैं ऐसे अल्पज्ञ पुरुषों द्वारा बताया गया शासन प्रत्यक्षसे विरुद्ध है। यह बात इस कारिकामें कही जा रही है। 'स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते' सर्वथा एकान्तवादियोंका अपना अपना इष्ट मंतव्य प्रत्यक्षसे बाधित होता है। एकान्तवाद अनेक प्रकारके हो सकते हैं कोई केवल समस्त जगतको सत्तामात्र ही माने, असत्त्वका सर्वथा विरोध करे, कोई वस्तुको नित्य ही माने, अनित्यत्वका सर्वथा विरोध करे, कोई समस्त विश्वको एक ही माने, अनेकत्वका सर्वथा विरोध करे, कोई एक-एक गुण लो परिणतिक्षणको एक-एक अलग-अलग मानकर सर्वथा उनमें अनेकत्व एकत्वका सर्वथा विरोध करे ऐसे अनेक प्रकारके एकान्तवाद हो सकते हैं। उन समस्त एकान्तोंका साक्षात्कार करना सो यों बाह्य तत्त्वकी तरह अंतस्तत्त्व भी अनेकान्तात्मक रूपसे सर्वदेशकालवर्ती प्राणियोंके द्वारा अनुभूत है उस तत्त्वमें बाधक प्रमाण भी नहीं आता है. इससे सिद्ध है कि एकान्तवादियों द्वारा अभिमत इष्टसे ही बाधित होता है।

अनेकान्तात्मकतासे शून्यमें सत्त्वकी कल्पनाका भी अभाव—लोकमें ऐसा कुछ भी पदार्थ नही है जो रूपान्तरसे विकल हो अर्थात् सत् असत्त्वसे रहित हो, नित्य अनित्यपनेसे रहित हो, एक वस्तु अनेकत्वसे रहित हो, ऐसा कुछ भी पदार्थ नहीं है जो अपने प्रतिपक्ष सहित न हो। समग्र वस्तुयें सप्रतिपक्ष हैं। जब हम व्यवहार

में भी देखते हैं कि किसी भी वाक्यका अर्थ विधि प्रतिषेधरूपसे लगता है तो उसमें निश्चय बनता है। जैसे कोई कहता है कि मैं सत्य बोलता हूँ। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं सच बोलता हूं झूठ नहीं बोलता हूँ। कुछ भी वाक्य बोला जाय उसकी दृढ़ता विधि प्रतिषेध दोनों दृष्टियोंसे बनती है। पदार्थ कोई सत् है तो वह किसी दृष्टिसे सत् है। जिस दृष्टिसे सत् है उस दृष्टिको छोड़कर अन्य दृष्टिसे यदि असत् न हो तो वह सत् नहीं रह सकता तो कोई भी पदार्थ रूपान्तरसे विकल नहीं है सत् असत्त्व करके सहित है। नित्य पदार्थ अनित्य धर्मसे सहित है। कोई भी एकान्त चाहे सत्त्वका एकान्त हो, नित्यका हो अनित्यका हो वह रूपान्तर विकल है अतः असत् है। अंतस्तत्त्व सम्वेदन ज्ञान भी अनेकान्तात्मक है। बहिस्तत्त्व स्कंध पुद्गल आदिक पदार्थ ये भी अनेकान्तात्मक हैं, फिर कोई पुरुष एकान्तवादकी हठ करे तो उसकी हठ युक्त नहीं है। एकान्तवादी भी कथनमें अनेकान्त पद्धतिका सहारा लेते हैं जैसे किन्हीं एकान्तवादियोंने चित्रज्ञान माना है कि जिसमें नील पीत आदिक अनेक आकार प्रतिभासित हैं तिसपर भी वह एक है तो देखिये ! वह ज्ञान एकानेकात्मक मान लिया गया ना। यों ही कथंचित् जिसमें विशेष संकीर्ण नहीं फिर भी एक रूप है ऐसा ज्ञान सुख दर्शन आदिकसे तन्मय चेतन कोई है। और स्कंध जो प्रत्यक्ष नजर आते हैं अनेक वर्ण संस्थान स्पर्श रस आकार आदिक अनेक धर्मोंसे तन्मय दृष्टिगत हो रहे हैं, इससे सिद्ध है कि लोकमें कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो अनेकान्तात्मक न हो।

सुखादि चैतन्यके अनेकविशेषात्मक होनेपर भी एकात्मक न होनेकी आशंका—अब यहाँ चित्राद्वैतवादी कहते हैं कि सुख आदिक चेतनको असंकीर्ण विशेषात्मक ही कहिये किन्तु एकात्मक न कहिये अर्थात् सुख, ज्ञान, दर्शन आदिक अनेक धर्मोंसे युक्त चेतन असंकीर्ण विशेषात्मक याने प्रतिनियत अनेकस्वरूप है यह कहना तो ठीक भी हो सकेगा किन्तु एकात्मक है यह युक्त नहीं जचता, क्योंकि सुख चेतनसे, जो कि आल्हादनाकार है, जिसमें आल्हाद भरा हुआ है ऐसे सुख चेतनसे, ज्ञेयपदार्थके प्रतिबोधन आकार वाले विज्ञानकी भिन्नता है। चेतनमें मुख्यतया सुख और ज्ञान ये दो धर्म माने हैं। तो देखिये ! सुखके स्वरूपकी तो अन्य जाति है और ज्ञानके स्वरूपकी अन्य जाति है। सुखका स्वरूप तो है आल्हाद और ज्ञानका स्वरूप है ज्ञेय पदार्थोंका बोधन करना, समझना। तो दोनोंका स्वरूप जब जुदा जुदा है, दोनोंके स्वरूप परस्पर विभिन्न हैं विरुद्ध धर्मका प्रतिभासना ही तो भिन्नताका साधन है। अन्यथा अर्थात् यदि विरुद्ध धर्मका अध्यास होनेपर भी भिन्नता न मानी जाय तो सारा विश्व एक बन बैठेगा। विश्वमें अनन्तानन्त पदार्थ हैं और वे अपने स्वरूपसे सत् हैं पररूपसे असत् हैं ऐसा कहकर स्याद्वादियोंने जो अनेक पदार्थोंकी व्यवस्था बनायी है वह व्यवस्था समाप्त हो जायगी, सारा विश्व एक बन जायगा, क्योंकि अब तो विरुद्ध धर्मका प्रतिभास होने पर भी अनेक मान लिया गया है, अतएव सुख आदिक चेतनको असंकीर्ण विशेषात्मक ही मानें एकात्मक मानें, तब तो बात युक्त बनेगी और फिर इस तरह अनेकान्तात्मकता

की उस चेतनमें सिद्धि न हो सकेगी।

अनेकविशेषात्मक सुखादि चैतन्यके एकात्मक न माननेकी शंकाका समाधान और शंकाकाराभिमत चित्रज्ञानमें दोषापत्ति—उक्त शंकाके समाधान में कहते हैं कि यह शंका असमीचीन है। असंकीर्ण विशेषात्मक ही चेतनको मानें और एकात्मक न माने तो इस हठमें चित्रज्ञान भी एकात्मक न बन सकेगा। क्योंकि चित्रज्ञानका अर्थ क्या है कि उसमें पीताकार, नीलाकार आदिक अनेकों आकारोंके सम्वेदन हो रहे हैं। चित्राद्वैतवादी चित्रज्ञानको एक ही मानते हैं। और उस चित्रज्ञानमें विषय होते हैं पीत नील आदिक चेतन पदार्थ। क्षणिकवादमें पदार्थ गुणी नहीं माने गए किन्तु नीला पीला आदिक जो निरंश भाव है वे पदार्थ हैं। तो खैर कुछ भी कह लो लेकिन चित्रज्ञानमें नीलाकार, पीताकार आदिक अनेक सम्वेदन हो रहे हैं ना। तो जो पीताकारका स्वरूप है सो नीलाकार आदिका नहीं। पीत जुदी वस्तु है नील जुदी वस्तु है। तो अब विरुद्ध धर्मका अध्यास होनेसे पीताकारसम्वेदन नीलाकार आदिके सम्वेदनसे भिन्न हो जायगा? क्योंकि सुख ज्ञान और ज्ञेय ज्ञान इन दोनोंकी तरह नीलाकारसम्वेदन पीताकारसम्वेदन इत्यादिमें भी विरुद्ध धर्मका अध्यास हो गया जैसे कि शंकाकारने सुखज्ञान और ज्ञेयज्ञान इन दोनोंमें विरुद्ध धर्मका अध्यास बताया इनको भिन्न भिन्न करार कर दिया है इसी प्रकार पीताकार सम्वेदन और नीलाकारसम्वेदन विरुद्धधर्मसे युक्त है अतएव यह भिन्न हो जायगा। और, ये जब भिन्न हो गए तो चित्रज्ञान एक कहाँ रहा?

अशक्यविवेचनताके कारण चित्रज्ञानको एकात्मक माननेकी तरह सुखादि चैतन्यमें एकात्मकताकी सिद्धि— शंकाकार कहते हैं कि चित्रज्ञानमें जो पीताकार नीलाकार सम्वेदन हो रहा है वह तो अशक्य विवेचन है। उनका विवेक करना, भेद करना अशक्य है। जब भेद नहीं किया जा सकता तो वह सर्वाकार सम्वेदन एकात्मक ही स्वीकार किया गया है। एक चित्रज्ञानमें जो नील पीत आदिक अनेक पदार्थोंका प्रतिभास हुआ है उसमें क्या कोई यह पृथक्करण कर सकता है कि लो यह तो पड़ा है नीलाकार सम्वेदन और यह पड़ा है अलग पीताकार सम्वेदन। तो नीलाकार पीताकार सम्वेदनोंमें अशक्य विवेचनता है अतएव चैतन्यज्ञान एकात्मक ही स्वीकार किया गया है। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि फिर तो सुख आदिक सम्वेदनने क्या अपराध किया? एक चेतनमें सुख सम्वेदन, ज्ञेयबोधन इनका भी पृथक करण नहीं किया जा सकता है याने इनमें भी विवेक करना पृथक करना अशक्य है। इस ही कारणसे तो सुख आदिक चेतनमें एकात्मकताकी उपपत्ति होती है। जैसे—पीतादि आकारोंको पृथक पृथक ले जाने के लिए रखनेके लिए पृथक विवेचनके लिए शक्यता नहीं है। जैसे वह आकार पृथक नहीं किया जा सकता है इसी प्रकार सुख आदिक आकार भी किसी अन्य चेतन रूपमें पृथक नहीं किया जा सकता है कि लो

यह सुखाकार चेतन पड़ा है और यह ज्ञेयबोधनाकार चेतन यह पड़ा है। ऐसे अन्य अन्य चेतनरूपसे उन सुखाकारोंको अलग नहीं किया जा सकता, अतएव सुख आदिक चेतन भी एकात्मक हैं।

सुखादि चैतन्यको एकात्मक मानकर भी अनेकविशेषात्मक न मानने में आपत्ति—अब चित्ताद्वैतवादी शंका करते हैं कि तब तो फिर सुख आदिक चेतन को एकात्वक ही मान लीजिए। असंकीर्ण विशेषात्मक मत मानो। अर्थात् सुख ज्ञान आदिक अनेक धर्मोंसे युक्त चेतन ऐक ही है, उसमें असंकीर्ण विशेष कुछ नहीं है। असंकीर्ण विशेषका अर्थ यह किया गया कि विशेष भेद उसमें अनेक पड़े हैं और वे अपने अपने स्वरूपको लिए हैं। परस्परमें वे एक स्वरूप नहीं हो जाते। ऐसे असंकीर्ण विशेषोंसे तन्मय मानते हैं सुख आदिक पदार्थोंको सो ऐसा मत मानो। बस सर्वथा एकरूप ही मान लीजिये। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि इस तरह सुखादि चैतन्यको असंकीर्ण विशेषात्मक न माना जाय, एकात्मक स्वरूप ही मानें तो इससे तुम्हारे इष्ट सिद्धान्तका भी घात हो जायगा। अर्थात् चित्रज्ञान एक ही मान लीजिए, चित्रज्ञानको भी असंकीर्ण विशेषात्मक न मानें, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। जब पीताकार सम्वेदन नीलाकारसम्वेदन आदि अनेक संवेदन ये जुदे नहीं किए जा सकते इस कारण चित्रज्ञानको एक रूप ही मान लीजिए। फिर उसमें असंकीर्णविशेषात्मकता न मानें। अर्थात् चित्रज्ञानमें जो नीलाकार सम्वेदन पीताकारसम्वेदन ऐसे अनेक विशेष स्वीकार किए हैं और वे सर्व विशेष असंकीर्ण हैं परस्परमें, एक रूप नहीं हो गए हैं, सबका स्वरूप जुदा जुदा है। ऐसे असंकीर्ण विशेषात्मकताकी बात फिर चित्रज्ञानमें न रहेगी क्योंकि अशक्य विवेचन होनेके नातेसे एकात्मक ही स्वीकार करना होगा। और जब चित्रज्ञानमें एकत्व मान लिया जायगा तो वह चित्रज्ञान न रहेगा, वह तो एक ज्ञान बन गया। जैसे अन्य एक ज्ञान। घट एक पदार्थका ज्ञान किया जा रहा हो तो उसमें चित्रव्यवहार तो नहीं किया जाता। ऐसे ही जब चित्रज्ञान भी सर्वथा एकात्मक हो गया तो फिर उसमें चित्रता क्या रही? वह चित्रज्ञान ही न रहा।

चित्रज्ञानमें ही एकात्मकताकी सिद्धि—शंकाकार कहते हैं कि चित्रज्ञानमें पीतादिकारका प्रतिभास अविद्यासे उपकल्पित है, अज्ञानके कारण यह पीताकार प्रतिभास है। यह नीलाकार प्रतिभास है, यह नीकाकार प्रतिभास कर लिया जाता है कल्पित कर लिया जाता है। वस्तुतः तो चित्रज्ञानमें एक ही तत्त्व है। ज्ञानाद्वैतमें मात्र ज्ञान ही है अन्य कुछ है ही नहीं। अन्य जो कुछ प्रतिभासमें आ रहे हैं वे सब अविद्या से उपकल्पित हैं, अतएव चित्रज्ञानमें एकात्मकता ही वास्तविक है। शंकाकारके इस मन्तव्यके समाधानमें कहते हैं कि यदि ऐसा है कि चित्रज्ञानमें नील पीत आदिक आकार प्रतिभास तो अनेक हैं जिनसे कि आप ज्ञानकी चित्रता मान पायेंगे। लेकिन

इससे चित्रज्ञानकी अनेकता साबित होनेसे चित्रज्ञानके एकत्वका घात होता है, सो उस विपत्तिसे बचनेके लिए जो शंकाकार यह कह रहे हैं कि चित्रज्ञानमें पीतादि आकारोंका प्रतिभास तो अविद्यासे उपकल्पित है, वास्तविक तो चित्रज्ञानमें एकात्मकपना ही है। तो यह बताओ कि एकाकार और अनेकाकारमें जब प्रतिभासकी अविशेषता हो गई, प्रतिभास एकाकारका भी है, प्रतिभास अनेकाकारका भी है। तो जब चित्रज्ञानमें एकात्मकताका भी ज्ञान हो रहा और पीतादि आकार प्रतिभास विशेष रूप अनेकाकारोंका भी ज्ञान हो रहा तो उनमेंसे एक कोई तो वास्तविक है और दूसरा अवास्तविक है, ऐसा विवेक कैसे किया जा सकता है। जब कि चित्रज्ञानमें यह भी विदित हो रहा है कि यह एकात्मक है, एकाकार है और यह भी विदित हो रहा कि नील पीत आदिक अनेकाकार सम्वेदन भी है तो इनमेंसे एकाकारको तो वास्तविक कह देते हो और अनेकाकार सम्वेदनोंको अवास्तविक बता देते हो, यह विवेक कैसे किया जा सकता है ? यदि कहो कि एकाकारका अनेकारसे विरोध है इस कारण अनेकाकारसे विरोध है इस कारण एकाकार ही अवास्तविक क्यों न बन जाय। जब दोनोंका परस्पर विरोध है तो किसीको भी अवास्तविक कह सकते।

चित्रज्ञानमें भी एकाकारकी अवास्तविकताकी सिद्धि— शंकाकार कहते हैं कि स्वप्नज्ञानमें अनेकाकार अवास्तविक प्रसिद्ध है, इस कारण चित्रज्ञानमें भी अनेक आकारकी अवास्तविकताकी कल्पना करना युक्त ही है। शंकाकार यह कथन इस आधारपर कह रहे हैं कि चित्रज्ञानको भी एक और अनेकाकारसे तन्मय मानते हैं। स्याद्वादियोंके प्रति चेतनको अनेक सम्वेदनात्मक और एक नहीं मानने देता। तो इस परस्परके सम्वादमें जब ऐसी आपत्ति आयी कि चित्रज्ञानमें जैसे एकाकारताको वास्तविक कहते हैं शंकाकार, इसी प्रकार अनेकाकारकी भी वास्तविकता सिद्ध होती है। तो चित्रज्ञानाद्वैतवादीको यह इष्ट है कि चित्रज्ञान एकात्मक तो रहे, पर यह अनेक न बन जाय। अनेक बननेसे द्वैत सिद्ध हो जाता है। तब अनेकाकारताको अवास्तविक सिद्ध करनेमें उनका प्रयोजन है। इस ही लक्ष्यसे कह रहे हैं शंकाकार कि चित्रज्ञानमें यद्यपि एकाकार और अनेकाकार दोनोंका प्रतिभास है लेकिन अवास्तविक अनेकाकार है। एकाकार नहीं है क्योंकि स्वप्नज्ञानमें भी देखा जाता है कि बहुत सी बातें नींदमें देख रहे हैं जंगल, समुद्र, तीर्थ, पहाड़, मनुष्य। लेकिन वे सब अवास्तविक हैं। तो स्वप्नज्ञानमें जब अनेकाकार अवास्तविक है ऐसे ही चित्रज्ञानमें भी अनेकाकारकी अवास्तविकता मानी जायगी। उत्तरमें कहते हैं कि यदि इस तरह स्वप्नज्ञानोंसे अनेकाकारकी अवास्तविकताको प्रसिद्ध कहकर चित्रज्ञानकी अवास्तविकता मानते हो तो केश आदिकमें एकाकारकी अवास्तविकता सिद्ध होनेसे चित्रज्ञानकी एकाकारतामें भी अवास्तविकता कैसे अयुक्त रहेगी ? एकाकार भी अवास्तविक बन जायगा।

चित्रज्ञानमें अनेकाकारको ही अवास्तविक बतानेका शंकाकारका पुनः

प्रयास व उसका समाधान—अब शंकाकार कहते हैं कि पीत आदिक आकारोंका सम्वेदनसे अभेद होनेपर एकत्वका विरोध है। क्योंकि भेदमें प्रतिभास होना असम्भव है। और यदि प्रतिभास हो जाय भेदका तो वहाँ ज्ञानान्तर बननेकी आपत्ति आयगी। अतएव अनेकाकारता ही अवास्तविक मानना चाहिए, उत्तरमें कहते हैं कि तब तो ज्ञान का फिर इसी कारण चित्रज्ञानमें जो एकाकारता मानी जा रही है वह भीअवास्कविक बन जायगी, क्योंकि उस एकाकारताके प्रतिभासका भी पीत आदि आकारके प्रतिभासों से अभिन्नत्व है अतः एकत्वका विरोध है। चित्रज्ञानमें जो कुछ अनेकाकार प्रतिभासित हो रहे हैं उन आकारोंसे तो चित्रज्ञान अभिन्न है ना। यदि भिन्न हो जायगा तब तो ही अभाव हो जायगा, अतः एकत्वका विरोध है। भिन्न होनेपर फिर चित्रज्ञानमें कोई सम्वेदन ही न रहेगा। ऐसा ज्ञान क्या जिस ज्ञानमें कोई चीज ज्ञात नहीं हो रही। और फिर वह एक ज्ञान हो। तो इस सब ज्ञेयाकारको उस चित्रज्ञानसे भिन्न माननेपर फिर सम्वेदन ही नहीं बन सकता। समस्त आकारोंसे शून्य चित्रज्ञान चीज ही क्या रहेगा ? और, यदि कहो कि चित्रज्ञानमें जो आकार प्रतिभासित हो रहे हैं उन सबसे भिन्न होनेपर भी वह ज्ञान बना रहेगा तो वह ज्ञान अन्य ज्ञान कहलायेगा कुछ रह उन सब ज्ञेयोंका ज्ञानरूप चित्रज्ञान न कहलायेगा। तब चित्रज्ञानमें अनेकाकारके प्रतिभासको ही अवास्तविक कल्पना करना शक्य नहीं है। अनेकाकार भी है और वह ज्ञान एक भी है। और इस तरह मान लेनेपर यही बात सिद्ध होती है कि हो सकता है कुछ ऐसा जो एक होकर भी अनेकात्मक है। जब कुछ एक अनेकात्मक सिद्ध हो गया तो सुखादिचैतन्य भी एक होकर भी अनेकात्मक सिद्ध हो जायगा। अर्थात् आत्मा एक है और उसमें ज्ञान, दर्शन, चरित्र, आनन्द आदिक अनेक गुणोंसे तन्मय एक आत्मा सिद्ध हो जायगा। और इस तरह एक अनेकात्मक सिद्ध हुआ तो वस्तु सप्रतिपक्ष है वह बात स्पष्ट हो जायगी। कोई भी सत् हो वह किसी दृष्टिसे असत्त्वमय भी है तब वह सत् है। इसी प्रकार जो भी धर्म है वह जिस अपेक्षासे है सो है और उसके विरुद्ध दृष्टिसे वह अन्य प्रकार भी है। तो इस प्रसंगमें चित्रज्ञानाद्वैतवादी चित्रज्ञानको एक मानते तो हैं पर एक ही उन्हें मानना होगा। जब अनेकाकारके प्रतिभासको ही अवास्तविक नहीं बता सकते हैं तब उनका यह कहना शोभा नहीं देता कि वह चित्रता क्या होगी किसी बुद्धिमें कि अनेकाकार तो आया ना और वह ज्ञान चित्र बन जाय, यह तो ज्ञेयभूत पदार्थोंका स्वयं रूप रहा है। उन ज्ञेयभूत पदार्थोंमें ऐसा स्वभाव बना हुआ है कि वह सब चित्रज्ञानमें आता है। तब चित्रताका निराकरण कैसे किया जायगा ? यह बात अब शोभा नहीं देती क्योंकि चित्राद्वैतको एक अनेकात्मक मानना होगा और इसी तरह यह कथन भी शोभा नहीं देता कि वह एकता ही क्या होगी ? उस चित्रज्ञानमें भी यदि एकाकारपना न हो तो। सो एकाकारता स्वयं ज्ञानको रूप रहा है। तो एकाकारताका भी क्या खण्डन करें ? ठीक है, लेकिन अपेक्षासे उन कथनोंको ठीक घटित करके ही कहना चाहिए।

चित्रज्ञानमें अनेकाकारताके अभावमें अनापत्ति व एकाकारताके अभावमें आपत्ति बताकर चित्रज्ञानमें एकाकारताको ही वास्तविक सिद्ध करनेका शंकाकारका विफल प्रयास—अब शंकाकार कहते हैं कि एक ज्ञानमें नानाकारताका अभाव हो भी जाय तो भी उस ज्ञानमें ज्ञानमात्रपनेका सद्भाव यदि रहता है तो सब कुछ व्यवस्थित रहता है क्योंकि स्वरूपकी क्षति अपने आपसे निराकृत नहीं होती। ज्ञानमें अपना स्वरूप तो रहना ही चाहिए और वह स्वरूप है अपने एकरूप, सो एकताका तो निराकरण किया ही नहीं जा सकता। भले ही उस एक चित्रज्ञानमें मान लो कदाचित कि चित्रता नहीं है, अनेकाकारता नहीं है तो न रहे। उससे कोई विरोध नहीं आता। लेकिन उस ज्ञानमें सम्वेदनमात्रका यदि अभाव मान लिया जायगा तो उस ज्ञानकी सत्ता ही नहीं रह सकती। इस शंकाका तात्पर्य यह है कि बात प्रसंगमें यह रखी जा रही है कि देखो चित्रज्ञान एक है। लेकिन उसमें सभी तरह के पदार्थ प्रतिभाससे आ रहे तो उस ज्ञानमें आकार तो अनेक बन गए ना ? तो वह एक अनेकात्मक हो गया। यहाँ शंकाकारको यह अभीष्ट है कि उस ,चित्रज्ञानमें अनेक आकारोंको तो अवास्तविक बता दिया जाय और एक जो उसका निजका सम्वेदन स्वरूप है उस अनेकाकारको वास्तविक कहा जाय। ऐसा ही सिद्ध करनेपर ज्ञानाद्वैतका मंतव्य ठहर सकता है। तो इसको सिद्धिमें शंकाकार यह कह रहे हैं एक ज्ञानमें मान लो कि चित्रता न रही तो भी ज्ञान तो रह जायगा। और, अपने आपका स्वरूप अपने आपमें विरुद्ध होता नहीं, लेकिन कोई यह मान बैठे कि उस एक ज्ञानमें ज्ञानमात्रपना तो रहा नहीं एकाकारता तो है नहीं तो सारी बात विरुद्ध हो जायगी। अतः चित्रज्ञानमें अनेकाकारताको आवस्तविक नहीं कह सकते। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह मंतव्य भी समीचीन नहीं है, क्योंकि सम्वेदन मात्र एक चित्रज्ञानके अभावमें भी नाना पीत आदिक प्रतिभासका सद्भाव रह सकता है क्योंकि उनका कोई विरोध नहीं है। रहा आये कोई ज्ञान ऐसा कि जिसमें हम एक सम्वेदन मात्र ही न मानें और जितने ज्ञेय हैं उन समस्त ज्ञेयोंका प्रतिभास है ऐसा मानें तो वह भी ज्ञान बन जायगा। इस कारण चित्रज्ञानमें एकाकारताका विरोध ज्योंका त्यों उपस्थित है।

चित्रज्ञानमें अनेकाकारोंको वास्तविक माननेपर अनेकाकारोंकी भी परम्परा लम्बी हो जानेका शंकाकार द्वारा प्रसंगारोप—उक्त प्रसंगमें अब शंकाकार कह रहे हैं कि देखिये ! ज्ञान है निरंश और एक। तब अनेकाकारताकी वास्तविकता लानेका प्रसंग दोगे तो सुना नीलाकारका जो सम्वेदन किया है उस सम्वेदनमें भी उस नीलके प्रत्येक परमाणुओंका भेद होनेसे एक सम्वेदन नहीं, किन्तु नील अणुवोंके सम्वेदन अनेक हैं और तब उस एक नील पदार्थके अनेक अणु सम्वेदनोंको भी परस्पर भिन्न हो जाना पड़ेगा। यहाँ माध्यमिक क्षणिकवादी कह रहे हैं कि हे स्याद्वादी जनों ! जैसे कि आपने उक्त प्रकार अनेकाकारताकी भी वास्तविकता सिद्ध करनी

चाही तो इस तरह यदि एक चित्रज्ञानमें अनेक पदार्थोंका ज्ञान होनेसे अनेकाकारता मान लेंगे तब तो एक पदार्थमें भी परमाणु तो हैं अनेक, उन सबका भी सम्वेदन हुआ है तब तो एक ही पदार्थके अनेक अणु सम्वेदनोंको भी परस्पर भिन्न बन जाना होगा। उनके मध्यमें जो एक नील परमाणुका सम्मेदन है उसमें भी चूंकि नाना प्रतिभासोंका सद्भाव है, अर्थात् वेद्याकार, वेदकाकार और सम्वेदनाकार ये तीन भेद पड़े हुए हैं। तो वहाँपर भी ज्ञान तीन हो जाना चाहिए। यदि एक चित्र ज्ञानमें अनेक पदार्थोंका ज्ञान आ जानेसे उन अनेकाकारोंको वास्तविक सिद्ध करनेपर ही तुले हो तो उन अनेकोंमेंसे जो एक नील सम्वेदन है उसमें भी नीलके अनेक परमाणुओंका सम्वेदन है और उस एक अणु सम्वेदनमें भी तीन आकार हैं वे जाने जा रहे हैं सो हुआ वेद्याकार और चूंकि ज्ञानको उत्पन्न करने वाला पदार्थ होता सो हो गया वेदकाकार, और चूंकि सब कुछ ज्ञानमय ही तो है इस दृष्टिसे हो गया सम्विदाकार इस प्रकार उस एक अणु सम्वेदनको भी तीन प्रकारमें मान लेना चाहिए और फिर उन तीन सम्वेदनोंमेंसे प्रत्येक को अन्यके द्वारा सम्वेद्याकार होते हैं तब तीन सम्वेदन और मान लेना चाहिए, क्योंकि ज्ञान तो होता है अस्वसम्विदित। तो वे तीन आकार अन्यसे जाने जायेंगे ना, और फिर वे भी तीन आकार अन्यसे जाने जायेंगे। तब किसी भी जगह एक ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती उनके यहाँ जो ज्ञानाद्वैतसे विद्वेष रखते हैं, अतः चित्रज्ञानमें अनेकाकार को अवास्तविक मानना चाहिए और एकाकारको वास्तविक मानना चाहिये।

मेचक ज्ञानमें चित्राकारताका अपाय होनेपर भी ज्ञानका अपाय न होनेसे अनेकाकारता अवास्तविक व एकाकरताको वास्तविक सिद्ध करनेका प्रयास—देखिये बाह्य अर्थमें अथवा ज्ञानमें किसीमें भी एकात्मकता न मानने पर फिर नानापनकी भी व्यवस्था कैसे बन सकती है ? एक चित्रज्ञानमें अन्य एक वस्तुकी अपेक्षासे ही तो अनेकपनेकी व्यवस्था बना करती है अर्थात मुलाबलेमें जब कोई एक हो तब तो एकपनेकी व्यवस्था बनेगी और कहीं एकपना माना नहीं तब किसी भी प्रकार नानापनकी व्यवस्था नहीं बन सकती। यदि कहीं एकता मान लेते हो बाह्य अर्थमें अथवा ज्ञानमें तब फिर चित्रज्ञानमें एकाकारता कैसे अविरुद्ध हो जायगी। चित्रज्ञानमें तो चित्रकारका अभाव होनेपर भी विनाश होनेपर भी सद्भाव रहता है, इससे चित्रज्ञानमें एकाकारता वास्तविक है और अनेकाकारता अवास्तविक है।

मेचकज्ञानमें अनेकविशेषात्मकताको अवास्तविक कहनेकी शंकाओंका समाधान—उक्त शंकावोंके समाधानमें अब स्याद्वादी कहते हैं कि चित्रज्ञानमें अनेकाकारताको अवास्तविक, बाह्य अर्थको अवास्तविक और एक मेचकज्ञान मात्रको एकाकारको वास्तविक कहनेकी बात विवेक पूर्वक कही हुई नहीं कही जा सकती है, क्योंकि जैसे कि बताया है शंकाकारने कि नानाकारका अपाय होनेपर भी उस चित्रज्ञानकी सम्भवता तो रहती ही है आदि बात शंकाकारकी बात माननेपर यह भी तो कहा जा

सकता है कि चित्रज्ञानमें ज्ञानाकारकी तरह पीताकार नीलाकार आदिक अनेकोंका सद्भाव सिद्ध होनेके कारण परस्पर अपेक्षासे अनेकत्वकी सिद्धि हो जाती है। जैसे कि अनेकपना एककी अपेक्षा रखकर होना बताया है उसी प्रकार यह चित्रज्ञानका एकपना भी तो अनेकाकारकी अपेक्षा रखकर बनेगा। तब सिद्ध हुआ ना, कि चित्रज्ञान एकाकार है और अनेकाकार भी है अर्थात् चित्रज्ञान असंकीर्ण विशेषात्मक एकात्मक है। तो जब चित्रज्ञानमें एकानेकात्मकता सिद्ध हुई तो नीलपीतादि प्रतिभासरूप अनेक चैतन्यमें व्याप्त अनेकाकार चित्रज्ञानका भी अन्तस्तत्त्वकी एकानेकात्मकपनेके सिद्ध करने में उदाहरण दिया है वह उदाहरण पूर्णतया युक्त होता है। प्रकरण यह था कि लोक में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो रूपान्तर विकल हो, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ सदसदात्मक नित्यानित्यात्मक आदिक अनेकात्मक पाये जाते हैं और उसके लिए उदाहरण दिया गया था चित्रज्ञान। सो यह बात बिल्कुल युक्त सिद्ध होती है कि जैसे चित्रज्ञान असंकीर्ण विशेषात्मक एकात्मक है इसी प्रकार ये सुख आदिक चेतन अंतस्तत्त्व भी असंकीर्ण विशेषात्मक एकात्मक हैं।

अनेक सुखादिकोंकी एक चैतन्यमें व्याप्ति न हो सकनेकी शंकाकार द्वारा कथन—अब यहाँ शंकाकार कहते हैं कि सुख आदिकका चैतन्य व्यापक होता हुआ क्या एक स्वभावसे हो रहा है या अनेक स्वभावसे हो रहा है? याने एक आत्मा में सुख ज्ञान, दर्शन आदिक जो अनेक गुण माने हैं उतने ही वे चैतन्य हुए तो उनका वह चैतन्य जो एकमें व्यापक बन रहा है तो क्या एक स्वभावसे व्यापक बन रहा है या अनेक स्वभावसे? यदि कहो कि एक स्वभावसे व्यापक बन रहा है तब तो उन समस्त सुख आदिकका एक स्वरूपपना बन जायगा। फिर अनेकात्मकता कैसे सिद्धकर पावोगे? यदि कहो कि अनेक स्वभावसे सुख आदिकका चैतन्य व्यापक हो रहा है तब तो वे अनेक स्वभाव भी कैसे अन्य अनेक स्वभावसे व्यापक हो पायेंगे? और इस तरह से प्रश्न बढ़ाते जाइये! अनवस्था दोष होगा। यदि कहो कि एक सदृश स्वभावसे सुख आदिक चैतन्यके साथ व्यापते हैं तब अनेक सजातीय स्वभावसे व्यापे गये यही तो कहनेका मतलब निकलता है। तो वहाँ भी उस ही प्रकार अनवस्था दोष आता है कोई उपाय नहीं है जिससे कि सुख आदिकमें व्यापक एक चैतन्य सिद्ध हो सके।

सुखादिकोंकी एक चेतनमें अव्याप्ति बतानेकी शंकाका समाधान—उक्त शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि ये सब बातें तो चित्रज्ञानमें भी समान रूपसे कह सकते हैं। बतलाओ कि पीत आदिक आकारका जो चित्रज्ञानमें व्यापक बन रहे हैं तो क्या एक स्वभावसे बन रहे है अथवा अनेक स्वभावसे याने चित्रज्ञान तो माना है एक और उसमें पीत नील आदिक आकार हैं अनेक। तो उन अनेकाकारोंका एक मेचक ज्ञानमें जो व्यापना बन रहा है सो क्या एक स्वभावसे व्यापना बन रहा है या अनेक स्वभावसे? यदि कहो कि एक स्वभावसे ही व्यापना बन रहा है तो उसमें सर्वथा एक

स्वरूपता ही आयी, फिर चित्रज्ञान ही क्या रहा ? यदि कहो कि अनेक स्वभावसे बन रहा है तो वे अनेक स्वभाव भी अन्य अनेक स्वभावसे व्यापक बनेंगे। तब अनवस्था हो जायगी। एक सदृश स्वभावसे भी कहेंगे तो वही अनवस्था। तो वहाँ भी कोई उपाय ऐसा न बन सकेगा कि जिससे पीत आदिक आकारोंमें व्यापक एक चित्रज्ञान सिद्ध हो सके। शंकाकार कहता है कि व्यापक चित्रज्ञानमें पीतादिक आकारोंमें जो व्यापक है उसका तो स्वयं सम्वेदन हो रहा है, एक स्वभावसे होता है या अनेक स्वभावसे होता है, इसके बिना वह स्वयं ही उसका सम्वेदन हो रहा अतएव कोई दोष नहीं है। तो उत्तरमें कहते हैं कि यों हों तो सुख आदिकमें व्यापी चेतनका भी एक साथ और क्रमसे स्वयं ही सम्वेदन हो रहा है, वहाँ पर भी कोई उपालम्भ कैसे दिया जा सकता है ? देखिये ! सुख आदिकोंमें व्यापी चेतन बराबर अनुभूत ही रहा है, फिर अनुभूत पदार्थमें अनुपपन्नताकी बात ही क्या रह सकती ? सुख आदिकका चेतनमें व्यापकपनेका सम्वेदन भ्रान्त नहीं है, अर्थात् सुख आदिक सब चेतनमें व्याप्त हैं और ऐसा सम्वेदन चल रहा है वह भ्रान्त नहीं है, क्योंकि सुख आदिककी अचेतनताको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है वे सब सुख आदिक चेतनात्मक हैं और उन सबका सम्वेदन स्वयं हो रहा है।

सुखादिभावके चेतन धर्मत्वकी प्रसिद्धि—शंकाकार कहता है कि सुख चेतन नहीं हैं, अचेतन है। उसकी सिद्धि अनुमानसे होती है। सुख आदिक अचेतन हैं उत्पत्तिमान होनेसे घट पट आदिक पदार्थोंकी तरह। जैसे घट पट आदिक पदार्थ उत्पन्न होते है इस कारण वे अचेतन हैं। तो इसी तरह सुख आदिक भी उत्पन्न होते हैं अतएव अचेतन हैं। यह अनुमान सुख आदिकी अचेतनताको सिद्ध करने वाला हो गया। उत्तरमें कहते हैं कि यह बात युक्तिसंगत नहीं है यह बात निर्दोष नहीं है। सुख आदिककी अचेतनता प्रत्यक्षसे बाधित है। चेतनसे सम्विदित हो स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष का सदैव प्रतिभास होता है। प्रतिभासनेवाले तो चेतन ही हैं और यह चेतन पदार्थ शरीर सुख आदिकका जो प्रतिभास करता है वह सुख आदिककी अचेतनता प्रत्यक्षसे बाधित है। चेतनसे सम्विदित ही स्वसम्वेदन प्रत्यक्षका सदैव प्रतिभासने वाले तो चेतन ही हैं और यह चेतन पदार्थ शरीर सुख आदिकका जो प्रतिभास करता है वह सुख आदिक चेतनसे समन्वित होते हुए ही प्रतिभासमें आता है। और, सीधे सरल शब्दोंमें समझिये तो यह जान सकते हैं कि सुख है क्या ? एक सुख होनेकी पद्धतिका ज्ञान बनना उस हीको तो सुख चाहते हैं तो सुख चेतन समन्वित ही तो हुए अतः सुख आदिकको अचेतन सिद्ध करनेकी बात बिल्कुल असंगत है। साथ ही शंकाकार के अनुमानमें दी गई प्रतिज्ञा, पक्ष अनुमानसे बाधा आ जाती है सुख आदिक चेतन है स्वसम्वेद्य होनेसे पुरुषकी तरह। जैसे पुरुष तत्त्व चेतन है क्योंकि वह स्वसम्वेद्य है इसी प्रकार सुख आदिक भी चेतन हैं क्योंकि चेतनके द्वारा स्वसम्वेद्यपना बन रहा है वह तो पुरुष तत्त्वके संसर्गसे बन रहा है अतएव सुख आदिकका स्वसम्वेद्यपना असिद्ध

है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह बात युक्त नहीं है। कभी भी सुख आदिककी अस्वसम्वेद्यता प्रतीत नहीं होती और इस ही कारण यह सब कुछ नहीं कहा जा सकता कि पुरुषके संसर्गसे सुख आदिकमें स्वसम्वेद्यता आती है। अर्थात् यदि हठप अड़े रहेंगे कि सुख आदिकमें सम्वेदनता पुरुषके संसर्गसे आती है। सुख आदिक हैं कोई, वे हैं भिन्न तत्त्व और पुरुष हैं भिन्न तत्त्व। उन सुख आदिककी स्वसम्वेद्यता पुरुष नामक तत्त्वके संसर्गसे आती है। इस हठमें तो यह भी कह सकते हैं कि पुरुषमें स्वसम्वेद्यता स्वसम्वेद्य सुख आदिकके सम्बन्धसे आती है, स्वतः नहीं आती। इस प्रकार कोई कहे तो उसका निराकरण करना अशक्य है। साथ ही चेतन विशेषके साथ हेतुका व्यभिचार बताया गया है। जो हेतु दिया है कि उपपत्तिमान होनेसे अचेतन हैं सुख आदिक तो उपपत्तिमान तो चेतन विशेष भी है। लेकिन चेतन विशेष अचेतन तो नहीं माना गया। तो उपपत्तिमान हेतुमें चेतन विशेषके साथ व्यभिचार भी आया है इस कारण सुख आदिकमें अचेतनताकी सिद्धि नहीं होती। और, सुख आदिक से चेतनत्वकी सिद्धि करनेपर स्याद्वादियोंके यहाँ अपसिद्धान्त भी नहीं बनता, क्योंकि चेतनजीवके द्रव्यार्थिक दृष्टिसे सुख आदिकमें चेतनताकी प्रसिद्धि है, सुखादिक चेतन हैं, क्योंकि वे एक चेतनात्मक जीवद्रव्यके ही तो अभिन्न तत्त्व हैं, समस्त औपशमिक आदिक भावोंको सुख ज्ञान आदिक प्रतिनियत पर्यायार्थिक दृष्टिसे ज्ञान दर्शनसे भिन्न भी कहा है, इस कारण यह भी शंका न करना कि इस तरह ज्ञान और सुख आदिकमें सर्वथा अभेद हो जायगा।

ज्ञानाभिन्न हेतुजन्य हेतु देकर सुखादिको ज्ञानात्मक ही सिद्ध करनेका शंकाकारका प्रयास व उसका समाधान—सुखादिक भाव और ज्ञान भाव इन दोनोंका लक्षण जुदा जुदा है। सुख तो है आल्हाद स्वरूप और ज्ञान है जानन स्वरूप तो चूंकि स्वरूप इनका भिन्न-भिन्न है इस दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि सुखादिक ज्ञान स्वरूप नहीं हैं। और, जब सुखादिक ज्ञानस्वरूप नहीं है तब सुखादिकका चेतन आत्माके साथ कथंचित् अभिन्नपना और कथंचित् अभिन्नपना बन जाता है। यह बात सुनकर शंकाकार कहता है कि तो भी सुखादिक तो ज्ञानात्मक ही है क्योंकि ज्ञानसे अभिन्न हेतुओंसे सुखआदिककी उत्पत्ति होती है, अर्थात् जो कारण ज्ञानकी उत्पत्तिके हैं वे ही कारण सुखकी उत्पत्तिके हैं। सो ज्ञानसे जो बनता है वह ज्ञानस्वरूप ही तो बनेगा। जैसे अन्य ज्ञान जितना बनता है वह ज्ञानात्मक ही तो है। जैसे अन्य ज्ञान ज्ञानसे अभिन्न कारणसे उत्पन्न हुए हैं अतएव ज्ञानात्मक हैं, इसी प्रकार सुखादिक भी ज्ञानसे अभिन्न कारणसे हुए हैं इस कारण सुखादिक भी ज्ञानात्मक है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह कहना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि सुख आदिक सर्वथा विज्ञान से अभिन्न हेतुवोंसे उत्पन्न हुए हैं, यह बात असिद्ध है। देखो! सुख आदिकके तो कारण साता वेदनीयके उदय आदिक और ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम, अन्तराय कर्मका क्षयोपशम, तब सुख आदिकके कारण भिन्न हुए और ज्ञान

कारण भिन्न हुए, तब यह कहना कैसे संगत रहेगा कि सुख आदिककी ज्ञानोंके अभिन्न हेतुओंसे उत्पत्ति हुई, और तब यह सिद्ध न हो सका कि सुख आदिक ज्ञानके अभिन्न हेतुओंसे उत्पन्न हुए सुख आदिकको सर्वथा ज्ञान स्वरूप नहीं कह सकते।

कथंचिद्विज्ञानाभिन्न हेतुजत्वसे सुखादिको ज्ञानात्मक ही माननेपर हेतु में रूप आलोकादिके साथ व्यभिचारका प्रसंग—यदि कहो कि सुख आदिक सर्वथा विज्ञानसे अभिन्न हेतुओंसे नहीं उत्पन्न हुए। इस शंकाके समाधानमें यही कह देना पर्याप्त है कि यदि कथंचित् विज्ञानके अभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण सुखादिकको यदि ज्ञानात्मक मान लेते हो तो देखिये विज्ञानके कारण तो रूप और प्रकाशको माना है क्षणिकवादमें। तो जैसे रूप और प्रकाशसे विज्ञानकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार रूपसे अन्य रूप क्षणकी उत्पत्ति भी मानी है और प्रकाशसे अन्य प्रकाश क्षणकी भी उत्पत्ति मानी है। तो शंकाकारके सिद्धान्तके अनुसार देखिये! रूपसे विज्ञानकी उत्पत्ति हुई है और रूपसे ही अगले रूपकी उत्पत्ति हुई है। तो चूंकि ज्ञान का और रूपका कारण एक है रूप इसलिए विज्ञान भी रूपात्मक हो जाय और रूप तो रूपात्मक है ही यों शंकाकारके सिद्धान्तका भी विघात हो जाता है, ऐसे ही प्रकाश की बात समझिये प्रकाशसे विज्ञानकी उत्पत्ति मानी है क्षणिकवादियोंने, और प्रकाशसे अगले समयके प्रकाशकी भी उत्पत्ति मानी है। तो जब प्रकाशसे ज्ञान भी उत्पन्न हुआ और प्रकाशसे अन्य प्रकाश भी उत्पन्न हुआ तो प्रकाशसे जो भी उत्पन्न हो वह तो प्रकाशात्मक ही माना जायगा। तो प्रकाशसे उत्पन्न हुए प्रकाशको प्रकाशात्मक तो माना ही है, पर प्रकाशसे उत्पन्न हुए ज्ञानको भी प्रकाशात्मक मानना पड़ेगा। तब यह कहना कि सुख आदिक विज्ञानके अभिन्न कारणोंसे उत्पन्न हुए हैं इस कारण सुख आदिक ज्ञानात्मक है यों कहनेमें रूप और प्रकाश आदिकके साथ हेतुका व्यभिचार होता है।

सुखादिकी कथंचित् ज्ञानरूपता होने व ज्ञानरूपता न होनेसे चेतनकी एकानेकात्मकताकी प्रसिद्धि—यहां परस्वरूप दृष्टिसे यह सिद्ध किया जा रहा है कि स्वरूपतः ज्ञान ही ज्ञानात्मक है। सुखका स्वरूप जानन नहीं है, किन्तु सुखका स्वरूप तो सुख है आल्हाद है, उस आल्हादको ज्ञान जानता है, यह तो सम्बंध है सुख भी आत्मासे हुआ है। ज्ञान भी आत्मामें हुआ है यों दोनोंका आधार तो स्पष्ट एक है लेकिन दोनोंका स्वरूप अलग—अलग और दोनोंकी उत्पत्तिके कारण भी निमित्त दृष्टिसे अलग अलग है। किन्तु क्षणिक-वादी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जैसे ज्ञान ज्ञानात्मक है ऐसे ही सुखादिक भी ज्ञानात्मक हैं। और, ऐसा सिद्ध कर देनेका उनका प्रयोजन यह है कि आत्मा अनन्त धर्मात्मक न सिद्ध हो सके, एकात्मक ही सिद्ध हो सके, एकात्मक ही सिद्ध

होती है और एकता भी सिद्ध होती है। यहाँ यह सिद्ध किया गया कि सुखका कारण तो साता वेदनीय कर्मका उदय है और यथायोग्य अंतरायका क्षयोपशम आदिक है। और ज्ञानके विकासका कारण ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम और वीर्यान्तराय क्षयोपशम आदिक है। अतएव सुख आदिकमें विज्ञानरूपता सिद्ध नहीं है। तो जब सुख आदिकमें विज्ञानरूपता सिद्ध नहीं है, तो जब सुख आदिक हैं ज्ञानरूपता सिद्ध न हुई तब क्षणिकवादियोंने जो यह कहा है कि तद्रूपी भाव तद्रुप हेतुसे उत्पन्न होते हैं, याने जो भाव जिस रूप है जिस स्वरूपमें तन्मय है वह भाव उस ही जातिके रूपसे होगा और जो भाव अतद्रुप है वह अतद्रूपसे होगा। तब सुख आदिक ज्ञानात्मक है क्योंकि वे ज्ञानके अभिन्न हेतुसे हुए हैं। यह सब कहना उनका निराकृत हो जाता है बल्कि शंकाकारने भी अपने सिद्धान्तमें यह कहा है कि सुख तो होता है आल्हादस्वरूप और ज्ञान होता है ज्ञेय पदार्थके जाननरूप और उस प्रकारका सुख और ज्ञानकी शक्ति है इसका अनुमान होता है क्रियासे। जैसे भोजन किया और उसमें सुखका अनुभव हुआ तो वहां जो आल्हाद हुआ है वह तो है सुख ज्ञेय और पदार्थका, भोजनका जो बोध हुआ है, उसका जो परिज्ञान हुआ है वह है विज्ञान। और ऐसी सुख ज्ञान की शक्ति है इस जीवमें इस शक्तिका अनुमान होता है उसकी क्रियासे। चूंकि वह ज्ञानमें लग रहा है और सुख मान रहा है तो उनसे प्रमाणीकता होती है कि इसमें सुख और ज्ञानकी शक्ति है। ऐसा जब स्वयं कहा है तो उससे भी यह सिद्ध हो गया कि सुख आदिक ज्ञानस्वरूप नहीं हैं। सुखादिक हुए आनन्दस्वरूप और ज्ञान हुआ ज्ञेय के जाननरूप। अतः यह स्पष्ट बन जाता है कि आत्मा एकरूप भी है, अनेक रूप भी है। एकरूप तो द्रव्यार्थिकनयसे है और अनेकरूप पर्यायार्थिकनयसे है। अथवा भेददृष्टिसे एकरूप है, सुख है ज्ञान है, दर्शन है शक्ति है, यों अनेक भाव ये दृष्टिसे जाने गए सो तो हुआ आत्मा अनेकरूप। और चूंकि आत्मा एक स्वभावरूप है इसलिये एक स्वभावकी दृष्टिसे आत्मा हैं एकरूप। तो सिद्ध हो गया कि यह ज्ञान तत्व एकानेकात्मक है सर्वथा किसी भी एकान्तरूप नहीं है।

अभिन्न हेतुजत्वसे तद्रूपताकी सिद्धिका अनियम— अब शंकाकारसे पूछा जा रहा है कि सुख आदिकको अचेतन सिद्ध करनेके लिए जो यह युक्ति दी जा रही है कि सुख आदिक ज्ञानात्मक हैं विज्ञानके अभिन्न हेतुओंसे, उत्पन्न होनेसे। तो यहाँ विज्ञानके अभिन्न हेतुसे उत्पन्न होनेकी जो बात कही जा रही है वह उपादानकी अपेक्षा से है, या सहकारी कारणकी अपेक्षासे है? यदि कहो कि उपादान कारणकी अपेक्षा से सुखादिको विज्ञानाभिन्नहेतु कह रहे हैं याने जिस कारणसे विज्ञानकी उत्पत्ति होती है उस ही कारणसे सुख आदिककी भी उत्पत्ति होती है अतएव सुख आदिक ज्ञानात्मक हैं, ऐसा माननेपर तो सब ही पदार्थोंमें सबके ही उपादानपनेका दोष आयगा। याने अतद्रूपको तद्रूपोपादान माननेपर सबके सब उपादान बन जायेंगे। अतः सुख आदिक विज्ञान भिन्नोपादान नहीं हैं। यदि कहो कि विज्ञानसे अभिन्न सहकारी

कारणपनेकी बात सुख आदिकमें कही जा रही है तो ऐसे अभिन्न हेतुकी बात रूप और आलोकमें भी पायी जाती है। तो जैसे सुख आदिकको विज्ञानाभिन्नहेतुज कहकर विज्ञानात्मक सिद्ध करना चाहते हो, इस ही प्रकार रूपादिकको भी विज्ञानात्मक मानना होगा। अथवा विज्ञानादिकको रूपात्मक आलोकात्मक मानना होगा। अत्र शंकाकार कहते हैं कि विज्ञानके अभिन्न होनेसे उत्पन्न होना है उसका अर्थ यह है कि सुख आदिक इन्द्रिय और मनके कारणसे होते हैं। जैसे कि इन्द्रिय और मनके कारणसे विज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार इन्द्रिय और मनके कारणसे सुखादिक भी उत्पन्न होते हैं। अतएव सुख आदिक विज्ञानाभिन्नहेतुज बन गए और तब सुख आदिक ज्ञानात्मक सिद्ध हो जाते हैं। उत्तरमें कहते हैं कि इतनेपर भी सुख आदिकमें ज्ञानस्वरूपता सिद्ध नहीं होती। अन्यथा द्रव्येन्द्रिय और मनके साथ व्यभिचार दोष आयगा। देखिये पूर्व द्रव्येन्द्रिय और मन उत्तर द्रव्येन्द्रिय और मनके प्रति कारण है तब उत्तर द्रव्येन्द्रिय जो नई बनी है और उत्तरमन, इनके ज्ञानके साथ अभिन्न हेतुजपना होनेसे अनैकान्तिक दोष आयगा, फिर तो ये इन्द्रिय और मन भी विज्ञानात्मक बन जायेंगे। अतः एकान्तसे सर्वथा सुख आदिकको ज्ञानात्मक नहीं कह सकते।

सुखादि भावोंमें चैतन्याचैतन्यात्मकताकी सिद्धि—लाक्षणिक दृष्टिसे भेददृष्टिसे सुखादिमें ज्ञानात्मकता नहीं है, हाँ द्रव्यार्थिकनयसे सुखादिकमें चेतनता मानी जायगी, क्योंकि सुख आदिक भी चैतन्यद्रव्यसे, आत्मासे अभिन्न है। और, जो परिणति चेतनकी है, चेतनसे अभिन्न है वह सब चेतनरूप कही जाएगी। तो द्रव्यार्थिकनयसे सुखादिक चेतनस्वरूप हैं ज्ञानस्वरूप हैं। पर उनका स्वयंका जो लक्षण है उस लक्षणकी दृष्टिसे ज्ञान ज्ञानस्वरूप है और सुख ज्ञानात्मक नहीं है। तो निर्णय यह हुआ कि द्रव्यार्थिकनयसे सुख आदिक ज्ञानात्मक हैं, क्योंकि चेतन द्रव्यसे अभिन्न होनेसे। किन्तु भेदनयसे पर्यायार्थिकनयसे सुखादिक ज्ञानात्मक नहीं हैं क्योंकि सुखका स्वरूप है आल्हाद और ज्ञानका स्वरूप है ज्ञेयबोध। इस आत्माके अनेकात्मकतासे यह सिद्ध होता है कि जो लोग सुख आदिकको सर्वथा चेतन अथवा ज्ञानात्मक मानते हैं वे भी कुछ भूल करते हैं और जो लोग सुख आदिकको सर्वथा अचेतन ही मानते हैं वे लोग भी भूल करते हैं। ज्ञानसे भिन्न होनेके कारण सुख आदिकमें अचेतनता ही है ऐसा कहने वाले नैयायिक आदिक भी निराकृत हो जाते हैं। सुख आदिक चेतन आत्मासे अभिन्न होनेके कारण कथंचित् चैतन्यस्वरूप हैं।

आत्मामें स्वभावतः चैतन्यस्वरूपताकी सिद्धि—अब यहाँ कोई शंकाकार पूछते हैं कि आत्मामें चेतनता किस तरह सिद्ध होती है? तो उत्तरमें कहते हैं कि आत्माका चेतनपना प्रत्यक्षसे प्रसिद्ध है। सो सब लोग समझते ही हैं। अपने अपने अनुभवसे पहिचान रहे हैं कि आत्मा चेतन है स्वसम्वेदनज्ञानसे सबको अनुभव हो रहा है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। और, फिर अनुमानसे भी समझिये। आत्मा

चेतन है प्रमाता होनेसे। जो अचेतन होता है वह प्रमाता नहीं होता। प्रमाताका अर्थ है जाननहार प्रमाण करने वाला। जैसे घट आदिक पदार्थ अचेतन हैं तो वे प्रमाता, जाननहार इस कारण आत्मा चेतन है इस अनुमानसे भी आत्माका चेतनपना प्रमाणसे सिद्ध है। यहां शंकाकार कहते हैं कि आत्मामें चेतनपना स्वभावसे नहीं है। स्वभावसे तो आत्मा एक द्रव्य है। उसमें प्रमिति स्वभावरूप चेतनाका समवाय होनेसे आत्मामें चेतनता सिद्ध होती है, सो ठीक है। आत्माको इस तरह चेतन माननेपर जो हम मानते हैं सो ही माना गया है। समाधानमें कहते हैं कि आत्मा चेतनासमवायसे चेतन हो यह बात नहीं है। आत्मा स्वरूपसे स्वयं ही सामान्यतया चेतन प्रसिद्ध है। यदि आत्मामें स्वभावतः चेतन न हो तो चेतनाका विशेष जो प्रमितिभाव है उसके समवायकी संगतता नहीं हो सकती है पट आदिककी तरह। बताइये कि उस चेतनाका समवाय आत्मामें ही क्यों होता है ? घट पट आदिक पदार्थमें क्यों नहीं हो जाता ?

सुखादि भावकी चेतनमें भिन्नप्रतिभासता व अभिन्न प्रतिभासताकी प्रसिद्धि—अब शंकाकार कहते हैं कि मानलो कदाचित् कि आत्मा चेतन है, परन्तु चेतन होनेपर भी आत्मासे सुख आदिक भिन्न कहलायेंगे। यदि सुख आदिक चेतन आत्मासे अभिन्न हो जायें तो फिर इसमें भिन्न प्रतिभास न रहना चाहिए। और प्रतिभास भिन्न भिन्न रूपसे हो ही रहा है। यह सुख है यह ज्ञान है यह बात समझमें भिन्न-भिन्न रूपसे आती ही है। इससे यह विदित होता है कि आत्मा चाहे चेतन भी हो लेकिन सुख आदिक आत्मासे अभिन्न अर्थात् एक रूप नहीं है। समाधानमें कहते हैं कि आत्मामें सुख आदिक सर्वथा भिन्न रूपके प्रतिभासमें आते हों यह बात प्रसिद्ध है। आत्मा अलग हो और सुख आदिक किसी अलग जगह हो रहे हों ऐसा तो नहीं होता। सुख आदिक किसी अलग जगह हो रहे हों ऐसा तो नहीं होता। सुख आदिक भाव आत्माके आधारमें ही आत्मामें ही समझे जाते हैं। हां कथंचित् भिन्न प्रतिभास की यदि बात कहते हो तो हम मानलें लेकिन कथंचित् भिन्न प्रतिभास होना अभेदका विरोध नहीं करता। सो सुख आदिक आत्मासे कथंचित् भिन्न है, कथंचित अभिन्न हैं। सो चित्रज्ञानकी तरह ही सुख आदिक भावसे तन्मय एक चेतन पुरुष सिद्ध हो जाता है। जैसे कि चित्रज्ञानको क्षणिकवादियोंने एकानेकात्मक माना है. वह ज्ञान एक है। पर उसमें नील प्रतिभास पीत प्रतिभास आदिक अनेक पदार्थ प्रतिबिम्बित होनेसे जो अनेक प्रतिभास चित्रज्ञानमें हो रहे हैं तो वही भी चित्रज्ञान अनेकात्मक है। तो जैसे चित्रज्ञान एकरूप है और अनेकरूप है इसी प्रकार आत्मा भी एकरूप है और अनेकात्मक है। और, केवल आत्माकी ही बात नहीं, समस्त पदार्थ कथंचित् एकस्वरूप और अनेकस्वरूप हैं। सर्वथा एकान्तकी बात कहना युक्तिसे विरुद्ध है. तब इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जैसे चित्रज्ञानको क्षणिकवादी दार्शनिक एकानेकात्मक रूपसे देखा करते हैं इसी प्रकार सुख आदिक चेतन अर्थात् एक आत्मा जिसमें सुखज्ञान आदिक

अनेक गुण तादात्मकरूपसे हैं। सो वह आत्मा अनेक विषयोंमें तन्मय है और स्वयं एक द्रव्य है।

अंतस्तत्त्व व बहिस्तत्त्वरूप समस्त पदार्थोंमें असंकीर्णविशेषात्मकत्व व एकात्मकत्वकी सिद्धि—उक्त विवरणसे यह सिद्ध हुआ कि अंतस्तत्त्व एकानेकात्मक है और इसी प्रकार समस्त बहिस्तत्त्व भी एकानेकात्मक है। जो सामने कुछ नजर आ रहा है स्कंध, कोई वस्तु जो दिख रही है वह एक पिण्डमें है अतएव तो एकरूप है लेकिन वर्ण न्यारा-न्यारा है, संस्थान जुदा जुदा है कोई चौकोर है कोई गोल है। कोई नाना आकारमें है इस तरह ये समस्त बाह्य तत्त्व भी एकानेकात्मक हैं। एक सामान्यरूपसे तो एकस्वरूप है यों जो कुछ भी सत् हैं वे सब एकानेकात्मक हैं। यानि द्रव्य गुण पर्यायात्मक हैं जो भी है है सो वह प्रतिक्षण नियमसे परिणमतो रहता है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि वह "है" तो है लेकिन उसका व्यक्तरूप अथवा परिणमन कुछ भी न हो। प्रत्येक सत् परिणमनशील है। तो परिणमन दृष्टिसे तो पदार्थमें अनेकात्मकता सिद्ध होती है। और, वह स्वयं एक ध्रुव द्रव्य है इस दृष्टिसे उसमें अनेकात्मकता सिद्ध होती है यों सभी पदार्थ एकात्मक हैं। चाहे चेतन हों चाहे अचेतन हों, उनमें केवल ज्ञानक्षण आदिको ही तत्त्व मानना अथवा नील पीत आदिक भावोंको ही तत्त्व मानना युक्तिसंगत नहीं है। उनके आधारभूत भी कुछ होना ही चाहिए। निराधार यह भाव सत्त्व नहीं रख सकता है। तो जो इन अनेक भावोंका आधार है वह तो एकरूप है और जो यह, तत्त्व है परिणमन है इसके स्वरूपकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह अनेकरूप है। मूल प्रसंग यह चल रहा है कि सर्वथा एकान्तवादी दार्शनिकोंके यहाँ अपना ही मंतव्य प्रत्यक्ष और युक्तियोंसे बाधित होता है। अतः अनेकान्तका शासन जिसका है ऐसे वीतराग सर्वज्ञ अरहंत ही आप्त हो सकते हैं।

अन्तस्तत्त्वकी भाँति स्कन्धादिक बहिस्तत्त्वमें भी असंकीर्णविशेषात्मकपने व एकात्मकपनेकी सिद्धि—जिस प्रकार अंतस्तत्त्व अर्थात् चेतन असंकीर्ण विशेषात्मक होकर एकात्मक है इसी प्रकार ये समस्त बहिस्तत्त्व पुद्गल स्कंध आदिक असंकीर्ण विशेषात्मक होते हुए एकात्मक हैं। जैसे चेतनमें यह समझमें आता है कि यह एक अखण्ड द्रव्य है अतएव एकरूप है, फिर भी भेददृष्टिसे ज्ञान दर्शन आनन्द आदिक अनेक गुण इसमें विदित होते हैं, और ये सब गुण अपना-अपना लक्षण लिये हुए हैं। अतएव असंकीर्ण हैं। ऐसे असंकीर्ण अपने अपने स्वरूपको रखने वाले अनेक विशेष भी विदित होते हैं। ऐसे ही इन पुद्गलोंमें जो कि एक एक अखण्ड परमाणु हैं वे एकरूप हैं फिर भी उनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिक विदित होते हैं तो ये पुद्गल स्कंध भी वर्ण आकार आदिक अनेक विशेषोंसे युक्त हैं फिर भी एकस्वरूप हैं। यों सभी तत्त्व चेतन अथवा अचेतन एकानेकात्मक हैं। उनमें सर्वथा एकान्त नहीं माना जा सकता है। स्कंधोंमें कोई ऐसी कल्पना करे कि वहाँ तो केवल वर्णादिक

ही देखे जाते हैं—वर्ण, रस, गंध, स्पर्श ये ही विदित होते हैं प्रत्यक्ष बुद्धिमें, किन्तु स्कंधका ज्ञान नहीं होता। स्कंध कहते हैं परमाणुओंकी स्थूल परिणतिको तथा क्षणिकवादसिद्धान्तके अनुसार स्कंध कहा गया है परमाणुओंके ढेररूपको। तो वहां क्षणिकवादकी कल्पनामें यह आता है कि प्रत्यक्ष बुद्धिमें तो रूपक्षण, रसक्षण आदिक ही विदित होते हैं स्कंध कोई नहीं है। ऐसी कल्पना करना युक्त नहीं है क्योंकि यदि रूपादिकका ही ग्रहण प्रत्यक्ष बुद्धिमें मानकर स्कंधको अवास्तविक कह दिया जाय या स्कंधका प्रत्यक्ष बुद्धिमें ग्रहण ही नहीं होता ऐसा मान लिया जाय, केवल रूपादिकका, सबका ग्रहण हो ही नहीं सकता। जब स्कंधका ग्रहण नहो, एक स्थूलका जब प्रत्यक्ष नहीं हो पा रहा तो उस हीमें तो रूप, रस आदिक हैं, उनका ग्रहण कैसे हो जायगा? स्कंधको छोड़कर वर्णादिक और कुछ उपलब्धिमें नहीं आते। जैसे कि क्षणिकवादी कहते हैं कि रूप, रस आदिकको छोड़कर स्कंधकी कोई उपलब्धि नहीं होती। रूप रस आदिकके रूपसे वही स्कंध उपलब्धिमें आ रहा है। तब यह कल्पना करना युक्त न रहा कि प्रत्यक्षज्ञानमें केवल रूप, रस आदिकका ही निरखन हो रहा है और स्कंधका नहीं। स्कंध तो पिण्डरूप पदार्थ है और रूप रस आदिक ये भिन्न भिन्न उसके परिणमनरूप हैं।

रूपादि परमाणुओंकी सत्ता होनेसे स्कन्धकी असिद्धिका शंकाकार द्वारा कथन— अब क्षणिकवादी शंका करते हैं कि रूपादिक परमाणु जोकि प्रत्यासन्न हैं, अतीव निकट-निकट हैं, किन्तु असम्बद्ध हैं वे प्रत्यक्ष होते हैं। रूप, रस, गंध ये स्वतन्त्र परमाणु हैं और एक दूसरेसे असम्बद्ध हैं रूपका रसमें क्या काम? रूपका लक्षण जुदा, रसका लक्षण जुदा, सबका अपना अपना लक्षण है और अपनी-अपने अपने क्षणमें सत्ता है। तो ऐसे रूपादिक परमाणु जो प्रत्यासन्न हैं और असम्बद्ध हैं वे ... हैं अपने प्रतिभासके कारणके वशसे प्रत्यक्षज्ञानको उत्पन्न कर सकें ऐसे ही समर्थ रूपादिक परमाणुओंकी उत्पत्ति हुआ करती है। रूपादिक परमाणु प्रतिक्षणमें नवीन-नवीन उत्पन्न होते रहते हैं और वे प्रत्यक्ष ज्ञानको उत्पन्न करते हैं उनमें यह सामर्थ्य है। जब चेतन प्रमाता उसपर उपयोग देते हैं और साधन जब सही मिल जाता है तब ये रूपादिक परमाणु प्रत्यक्ष ज्ञानको उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं। और उस ही कारण सामग्रीसे जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियां हुईं, प्रकाश आदिक मिले, ऐसे ही कारणसमूहसे ही अन्य जन भी नैयायिक स्याद्वादी आदिक अन्य दार्शनिक भी स्कंधको प्रत्यक्ष माना करते हैं। तो रूपादिक परमाणु जो प्रत्यक्षमें आते हैं सो कारण सामग्री मिले तब आते हैं। रूप हो, चक्षु हो, प्रकाश हो तो इन सामग्रियोंके ... प्रत्यक्षमें आया करते हैं। अन्यथा अर्थात् अपने कारणके वशसे ही स्कंध प्रत्यक्ष ज्ञानको उत्पन्न करनेका सामर्थ्य स्वभाव न रखे, ऐसी बात माननेपर फिर तो सर्व स्कंधोंमें प्रत्यक्षपनेका प्रसंग आ जायगा। जो स्कंध दृश्य है अन्य दार्शनिकोंकी दृष्टिसे और जो स्कंध अदृश्य हैं वे सभीके सभी प्रत्यक्षमें आ जाने चाहियें। क्योंकि

स्कंधपना तो उन सबमें मौजूद है। और यदि स्कंधपनेकी अविशेषता होनेपरे भी किन्हीं स्कंधोंमें तो प्रत्यक्ष स्वभाव मान लिया जाय और कुछ स्कंधोंमें प्रत्यक्षत्व स्वभाव न माना जाय तो जो पिशाच शरीरादिक स्कंध है वे परमाणुरूप अपने कारण से ही तो उत्पन्न हैं सो अपने ही स्वभावकी ओरसे उन परमाणुओंमें कोई प्रत्यक्षमें आवे कोई प्रत्यक्षमें न आवे यह बात बन जायगी क्योंकि स्कंधोंकी भाँति परमाणुओं में भी प्रत्यक्षाप्रत्यक्षस्वभाव मान लिया जाना चाहिए तो जैसे अन्य दार्शनिकोंने स्कंधोंमें अपनी कारण सामग्रीके वशसे किन्हीं स्कंधोंको प्रत्यक्ष होने योग्य माना है और किन्हीं स्कंधोंको प्रत्यक्ष न होने योग्य समझा है. ऐसी ही बात परमाणुओंमें समझ लेना चाहिए कि पुञ्जीभूत कुछ परमाणु तो प्रत्यक्षमें आ जाते हैं और जो पुञ्जीभूत नहीं हैं, प्रचय पिण्डरूप नहीं हैं ऐसे परमाणु प्रत्यक्षमें नहीं आ पाते हैं। यह बात जैसे स्कंधमें प्रत्यक्ष स्वभाव और अप्रत्यक्ष स्वभावसे मान लिया करते हैं ऐसे ही इन परमाणुओंमें भी कुछ परमाणु प्रत्यक्ष हो पाते हैं, कुछ परमाणु प्रत्यक्षमें नहीं आते हैं, यह विभाग बन जायगा। फिर अवयवीकी कल्पना करना व्यर्थ है। पदार्थमें ही ऐसा स्वभाव पड़ा हुआ है कि वे कोई तो प्रत्यक्षमें हो ऐसा स्वभाव पड़ा हुआ है कि वे कोई तो प्रत्यक्षमें आ जात हैं और कोई प्रत्यक्षमें नहीं आ पाते। जिन जिनके कारण सामग्री पूर्ण मिल जाती है वे तो प्रत्यक्ष ज्ञानमें साफ आ जाते हैं और जिनके कारण सामग्री पूर्ण नहीं मिल पाती वे प्रत्यक्षज्ञानमें नहीं आ पाते।

प्रत्यक्षमें स्वसमर्पण न होनेसे स्कन्धकी अमूल्यदानक्रियताका शंकाकार द्वारा कथन—जब परमाणु ही प्रत्यक्षगोचर होते हैं तब वहाँ अवयवीकी स्कंध की कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि अब तो यहाँ अवयवी बिना मूल्य दिए ही खरीदे हुए की तरह हो गया। प्रयोजन अवयवीका कुछ नहीं है। काम कुछ आ नहीं रहा है। प्रत्यक्ष बुद्धिमें अवयवीका कोई हाथ नहीं है और कुछ भी मूल्य चुकाये बिना अवयवीको मान रहे हो ग्राह्य अर्थात् वे ज्ञानमें आते हैं तो यह तो एक मुफ्त ही खरीद लेने जैसी बात हुई। याने मुख्य प्रत्यक्षमें तो परमाणु ही अपना आकार समर्पण करते नहीं, फिर भी स्कंधको प्रत्यक्षगोचर मानना चाहते हो। स्कंध तो विकल्प बुद्धिमें ही प्रतिभासमें आया करते हैं। और विकल्प बुद्धि है अवास्तविक निर्विकल्प, वास्तविक प्रत्यक्ष है, जो अन्यापोह वाली विकल्प बुद्धि है, जिसमें किसी पदार्थ का विकल्परूपसे ग्रहण होता है। जिस ग्रहणकी रूप रेखा यह है कि यह और अन्य कुछ नहीं है। जैसे गाय पशु आदिक विकल्पबुद्धिमें आये तो इस ढंगसे ही तो आये कि यह अगो नहीं है अर्थात् घोड़ा भैंस आदिक अन्य समस्त पदार्थ नहीं है। इस तरहका विकल्प बुद्धिमें ही वह स्कंध प्रतिभासमें आयगा जो स्कंध प्रतिभासमें आयगा। स्कंध का यदि पूर्वापर विचार किया जाता है तो युक्तिसंगत नहीं बैठता। जब स्कंधके सम्बन्धमें यह विचार करने बैठते हैं कि स्कंध अर्थात् अवयवी यदि कुछ है तो वह बतलाइये कि अवयवी अवयवोंमें सर्वथा एक स्वभावसे रहता है या अवयवी अवयवोंमें

सर्वथा एक स्वभावसे रहता है या अवयवी अवयवोंमें सर्वात्मकरूपसे रहता है। दोनों विकल्पोंका विचार करनेपर कोई समाधानमें नहीं मिलता तो ये स्कंध विचार किए जानेपर युक्तिमंगत नहीं होते। अतः रूपादिक परमाणु ही वास्तविक पदार्थ हैं। जैसे कि एक-एक असम्बद्ध परमाणु वास्तविक हैं। स्कंध वास्तविक नहीं है, ऐसे ही एक प्रदेशी ही तत्त्व वास्तविक है। अनेक प्रदेशोंको घेर सकने वाला कोई एक पदार्थ हो सो नहीं है तथा एक ही समयमें जिसकी सत्ता है वह ही पदार्थ वास्तविक है। अनेक समयोंमें कोई रहे ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने अपने ही लक्षणको रखने वाला है स्वलक्षणसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी मुद्रा और स्वरूप किसी पदार्थका नहीं है। तो इस सिद्धान्तके अनुसार जो दिख रहे हैं पिण्डरूप स्कंध वे तो सब मायारूप हैं और विकल्प बुद्धिमें आये हुए हैं। वास्तविक तो रूप-क्षण रसक्षण आदिक परमाणु ही हैं। स्कंध कोई वस्तु नहीं है।

क्षणिकवादियोंकी स्कंध न माननेकी कल्पनाका निराकरण — शंकाकार की उक्त शंकाकी सारी योजना असंगत है—स्कंध निर्विकल्प बुद्धिमें ही प्रतिभासमान होता है और उसके विकल्पों द्वारा विचार करनेपर संगतपना नहीं बैठता है अथवा प्रत्यक्षमें अपने आपका तो समर्पण नहीं करता और प्रत्यक्ष स्वीकार कहनेकी चाह कि जा रही है आदिक बातें सब असंगत हैं क्योंकि प्रत्यासन्न अर्थात् अत्यन्त निकट ठहरे हुए और असम्बद्ध ऐसे परमाणुओंका भिन्न-भिन्न रूपसे किसी भी पुरुषको कभी भी निश्चय नहीं हो रहा है अतएव ऐसे परमाणुओंका प्रत्यक्ष नहीं बन सकता है। स्कंध का ही स्पष्टरूपसे प्रत्यक्षमें प्रतिभास होता है और, स्कंधरूपसे ही इन सब पदार्थोंका निश्चय हो रहा है। अतएव स्कंधका ही प्रत्यक्ष होना घटित होता है, परमाणुओंका जैसा कि असम्बद्ध माना गया है इन दृष्टिगोचर पदार्थोंके बीच उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। यह भी नहीं कह सकते कि स्कंधका प्रत्यक्ष नहीं होनेपर सभी स्कंधका प्रत्यक्ष-पना हो जाय अर्थात् दृश्य और अदृश्य पिशाच शरीरादिक भी प्रत्यक्षभूत हो जायें यह दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि परमाणुओंकी तरह सारे स्कंध समान परिमाण वाले नहीं है। जैसे कि परमाणु जितने भी हैं वे सब एक प्रदेशी परिमाण वाले हैं इसी प्रकार स्कंध सब समान परिमाण वाले नहीं होते, स्कंधोंमें नाना स्वभाव नाना परि-माण पाये जाते हैं और, इसी कारण यह बात नहीं कह सकते कि यदि कुछ स्कंध प्रत्यक्ष ज्ञानमें आ रहे हैं तो सारे स्कंधोंको प्रत्यक्ष ज्ञानमें आ जाना चाहिए सभी स्कंधोंमें प्रत्यक्ष स्वभावना बन जाय यह आपत्ति नहीं दी जा सकती, स्कंधोंमें अणु महान आदिक परिमाणका भेद पाया जाता है, कोई सूक्ष्म है कोई स्थूल है ऐसे अनेक तरहके स्कंध पाये जाते हैं, इस कारण उन स्कंधोंमें अदृश्य स्वभाव और दृश्य स्वभाव का भेद पाया जाता है। कोई स्कंध अदृश्य स्वभाव है और कोई स्कंध दृश्य स्वभाव है, अतएव किन्हीं स्कंधोंके प्रत्यक्षभूत हो जानेपर सारे स्कंध प्रत्यक्षभूत हो जायें, यह आपत्ति नहीं आती।

स्कन्धोंकी अमूल्यदानक्रयिताकी शंकाका समाधान और वर्तमान प्रसंग का निष्कर्ष—इस प्रसंगमें यह भी नहीं कह सकते कि स्कंधोंका विषम परिमाण यदि हैं तो रहो अर्थात् कोई स्कंध स्थूल है, कोई सूक्ष्म है यों नाना प्रकारके परिमाण वाले स्कंध होते हों तो हों लेकिन इन स्कंधोंका विकल्प बुद्धिमें ही प्रतिभास होनेसे अहेतुपना है और इसी बातको लेकर बिना मूल्य दिए खरीदनेकी तरह अर्थात् निर्विकल्प मुख्य प्रत्यक्षमें स्कंध आत्मसमर्पण नहीं करते और फिर उन्हें प्रत्यक्ष बताया जा रहा ये सब दोष नहीं आते। क्योंकि स्कधोंने प्रत्यक्षमें स्वका समर्पण किता है। सब लोग अपने ज्ञानमें समझ रहें हैं कि हमारे ज्ञानमें ये स्थूल पिण्डभूत स्कंध आ रहे हैं न कि हमारे ज्ञानमें ये स्थूल पिण्डभूत स्कंध आ रहे है न कि एकप्रदेशी असम्बद्ध परमाणु आ रहे हैं। तो प्रत्यक्षमें इन स्कंधोंने स्वका समर्पण किया है तब हम प्रत्यक्षताकी बात कह रहे हैं। भली प्रकारसे स्कधसे सम्बन्धमें विचार किया जाय तो किन्हीं भी विकल्पों में स्कंधोंका खन्डन नहीं होता। ये सब आगेकी इस कारिकामें कि "संतान: समुदायश्च साधर्म्यं च निरंकुश। प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे, जो द्वितीय परिच्छेदमें कहा गया है उस कारिकामें स्कंधकी सिद्धिमें बहुत विस्तारसे विचार किया जायगा। निष्कर्ष यह है कि जैसे अन्तस्तत्त्वके सम्बन्धमें एकात्मकता और अनेक विशेषात्मकता है याने चेतन्य स्वरूपसे अखण्ड है एक है और भेद दृष्टिसे उसमें ज्ञान दर्शन आनन्द आदिक अनेक गुण विदित होते हैं तो यों अनेक विशेषोंसे युक्त होकर यह चेतन एक रूप है इसी प्रकार ये सब बाह्य तत्त्व भी पुद्गल भौतिक स्कंध पिण्ड भी ये सब अनेक विशेषात्मक होकर एक रूप हैं, और स्कंकोधों भी बात यह है और परमाणुओंकी भी बात यह है। परमाणु भी अपने आपमें एक अखण्ड स्वरूप रखते हैं और रूप, रस, गंध, स्पर्श ये गुण भी पाये जाते हैं। स्कंधोंमें ये विशेष स्पष्ट विदित हो जाते हैं, परमाणुमें विदित नहीं हो पाते। तो यों समस्त सत् चाहे वह अन्तस्तत्त्व हों अथवा बाह्यतत्व हो, सबका सब अनेक विशेषात्मक होकर अपने अपने स्वरूपसे एकात्मक है अतः सर्वथा एकान्तवादियोंका माना गया तत्त्व प्रत्यक्षसे ही बाधित हो जाता है।

स्कन्धको ही वास्तविक व रूपादिको अवास्तविक माननेकी एक शंका—अब यहाँ सांख्यसिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि स्कंध प्रत्यक्षके विषयभूत हैं तो ठीक है, सही बात है। तब स्कंधको ही सत्य मानो, वर्णादिकको सत्य मत मानो। वर्णादिक स्कंधसे अलग और कुछ नहीं है स्कंध ही चक्षु आदिक कारणके भेदसे ज्ञान के साधनके भेदसे वर्णादिक रूपमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतिभासित हुआ करते हैं। अर्थात् है तो एक स्कंध लेकिन उस स्कंधको जब चक्षुइन्द्रियसे जाना जाता है तब उसमें रूप प्रतिभात होता है उसे जब रसना इन्द्रियसे जाना जाता है तो रस प्रतिभात होता है। घ्राणइन्द्रियसे जाननेपर उसमें गंध प्रतिभात होता है स्पर्शन इन्द्रियसे जाननेपर उसमें स्पर्श प्रतिभात होता है तो स्कंध तो है एक किन्तु जाननेके जो साधन हैं उन साधनोंके भेदसे उनमें वर्णादिकके भेद प्रतिभात होते हैं। जैसे कि थोड़ी अंगुलीसे

नेत्रको ढाक दिया जाय तो नेत्रमें भी विशेष (भेद) पड़ जाता है। चन्द्रमा अथवा दीपककी लौ वह एक है तो भी नेत्रको कुछ एक ओर अंगुलिसे ढकने वालोंके वह अनेक प्रतिभासमें आती है। तो अनेक वास्तवमें है तो नहीं, चन्द्र तो एक है। अथवा एक दीपक रखा है उसकी लौ तो एक है लेकिन जब कुछ अंगुलीसे नेत्रको दबाकर निरखते हैं तो वे अनेक प्रतिभासमें आते हैं। तो यह साधनभेदसे ही तो भेद प्रतिभास हुआ। इसी प्रकार स्कंध तो एक है मगर चक्षु आदिक इन्द्रियके भेदसे उनमें वर्णादिकके भेद प्रतिभासमें आते हैं। वस्तुतः स्कंध ही है। स्कंधसे अतिरिक्त रूप, रस गंध आदिक नही हैं?

स्कन्धमात्र तत्त्व माननेकी शंकाका समाधान- अब उक्त शंकाके समाधानमें करते हैं कि यह बात भी युक्त नहीं है कि स्कंध ही मात्र तत्त्व है। वर्णादिक कुछ हैं नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर फिर तो सत्ता आदिकके अद्वैतका भी प्रसंग आ सकता है जो कि सांख्यको स्वयं इष्ट नहीं है। वहाँ भी यह कहा जा सकता है कि बिस्वमें केवल एक सत्ता ही है, द्रव्य, गुण आदिक कुछ नहीं है, सत्तासे पृथग्भूत कहीं द्रव्य गुण आदिक हो ऐसी बात तथ्यभूत नहीं है। कल्पनाके भेदसे ही उस एक सत्तामें भेदका प्रतिभास होता है, ऐसा कहकर एक सत्ता आदिकके अद्वैत माननेका प्रसंग आँ जाता है। यहाँ कोई कहे कि फिर तो एक सत्ता द्वैत ही मान लिया जाय सो भी बात नही है क्योंकि सत्ताद्वैतके सम्बंधमें कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकरणके बाबत आगे कारिकामें खुद विस्तारसे वर्णन किया जायगा।

पदार्थके अनेकान्तात्मकत्वकी सिद्धिका समर्थन- यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जैसे चित्रज्ञान अनेक विशेषात्मक होता हुआ एकात्मक माना गया है क्षणिकवादियोंने, क्योंकि उसमें नील पीत आदिक प्रतिभास अनेक हैं, अतएव अनेकात्मक है। और, वह ज्ञान एक अपने स्वरूपमें है अतः एकात्मक है। तो जैसे चित्रज्ञानको अनेकात्मक एकस्वरूप माना है ऐसे ही चेतन भी सुख द्यात्मक एक स्वरूप है अर्थात् उसमें सुख, ज्ञान, दर्शन आदिक अनेक गुण हैं। फिर भी अपने स्वरूपसे एक है। सो केवल अंतस्तत्त्वको ही यों न निरखना कि यह अनेकात्मक एक स्वरूप है, किन्तु वर्ण संस्थान आदिक स्वरूप स्कंध भी एकात्मक हैं। स्कंध अपने स्वरूपसे एक पिण्डरूप हैं किन्तु उनमें वर्ण गंध, रस आकार आदिक अनेक बातें हैं। तो यों बहिस्तत्त्व भी एकानेकात्मक है। अन्तस्तत्त्व भी एकानेकात्मक है। विश्वमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो सर्वथा किसी एकान्त स्वरूप हो। और, इसी कारण यह बात जो कही गई है वह पूर्णतया युक्त है कि विश्वमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो रूपान्तरसे विकल हो अर्थात् किसी पदार्थमें सत्त्व समझा जा रहा हो तो वह असत्त्वसे विकल नहीं है। सत्त्व है तो साथ ही वहाँ असत्त्व भी है। किसी अपेक्षासे अस्तित्व भी है तो अन्य अपेक्षासे नास्तित्व भी है। तो जैसे न कोई केवल सत्त्वरूप है न कोई केवल असत्त्वरूप है, इस ही

प्रकार कोई भी पदार्थ न केवल नित्यरूप है और न केवल अनित्यरूप है। जैसे पदार्थ एकानेकात्मक है, सद्सदात्मक है इसी प्रकार नित्यानित्यात्मक है। इसी तरह यह भी जानना कि कोई भी पदार्थ अद्वैत एकान्तरूप नहीं है और साथ ही द्वैतादिक एकान्त, रूप भी नहीं है। चाहे अन्तस्तत्त्व हो, सम्वेदनात्मक पदार्थ हो, चाहे बहिस्तत्त्व हो, कोई भी सर्वथा एकान्तस्वरूप दार्शनिकोंने प्रतिज्ञा की है कि पदार्थ केवल क्षणिक है, केवल नित्य है, केवल अद्वैत है अथवा द्वैत है, यों किसी भी प्रकारसे एकान्तस्वरूप कुछ भी नहीं है।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थका संम्वेदन होनेसे एकान्तवाद कल्पनाकी अस्तंगतता—सामान्य विशेष ही है एक आत्मा जिसका इस प्रकार अथवा सामान्य और विशेषोंसे उपलक्षित है एक स्वरूप जिसका इस प्रकारसे प्रत्येक वस्तुका अनेकान्त स्वरूप है, सामान्य विशेषात्मक एक अखण्ड द्रव्यकी जो सम्यक् जानकारी है व एकान्तकी अनुपलब्धि है वह भली भाँति अनेक प्रमाणोंसे सिद्धि हो चुकी है और मुख्यतया प्रत्यक्ष प्रमाणमें ही सिद्धि हो गई है, सो सिद्ध होती हुई यह अनेकान्त स्वरूपकी जानकारी अनार्हत्व कल्पनाओंको अस्तंगत कर ही देती है। जो कोई कुछ भी ज्ञान वाले हैं जिनको चक्षु आदिक इन्द्रियोंसे स्पष्ट बोध हो रहा है उनके चित्तमें अनार्हत कल्पनायें नहीं ठहर सकतीं। तो जब एक प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही एकान्तवादियोंका इष्ट मंतव्य बाधित हो जाता है तो अन्य प्रमाणोंके कहनेका फिर मतलब ही क्या रहा? जब एकान्तकी उपलब्धि ही नहीं हो रही प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी, तब विशेष युक्तियाँ देनेकी आवश्यकता नहीं रहती। देखिये! सामान्य एकान्तकी उपलब्धि नहीं हो रही है क्योंकि वस्तुमें विशेषकी भी उपलब्धि हो रही है। इसी प्रकार केवल विशेष एकांतकी उपलब्धि नहीं हो रही है क्योंकि वस्तुमें सामान्यका भी निरखना हो रहा है सामान्य एकान्तको मानते हैं सत्त द्वैतवादी। सत्ताद्वैतवादियोंका मंतव्य है कि विश्वमें केवल एक सत्तामात्र ही है सो यह बात यों निराकृत होती है कि रूपादिक विशेष ये बराबर प्रत्यक्षसे उपलब्ध हो रहे हैं। कुछ लोग मानते हैं विशेष एकान्त केवल रूपक्षण, रसक्षण आदिक ही पदार्थ हैं। उनका मंतव्य भी प्रत्यक्षसे निराकृत होता है। रूप, रस आदिकका आधारभूत एक सामान्य पदार्थ प्रत्यक्षसे भी जाननेमें आ रहा है। कोई पुरुष सामान्य एकान्त और विशेष एकान्त दोनोंको मानता है और मानता है परस्पर निरपेक्ष। उनके भी मंतव्यकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि अनेक विशेषात्मक होकर एकात्मक वस्तु देखी जा रही है। जो वस्तु स्वयं सामान्यात्मक है और विशेषात्मक है, इस प्रकार सामान्यविशेषात्मक होकर भी एकस्वरूप है, यह वस्तुमें बराबर तत्त्व देखा जा रहा है। कोई पुरुष जो भेद नहीं मानते, एक अभेदको ही स्वीकार करते उनका यह सामान्य विशेष दोनोंको मानकर भी एक ही वस्तुमें कुछ हिस्से तक सामान्य है। कुछ हिस्से तक विशेष है। इस प्रकार सामान्यात्मक और विशेषात्मक मानते हैं, सो उनका भी इस तरह सामान्य विशेषरूप एक आत्मा सिद्ध नहीं होता।

क्योंकि ऐसे जुदे-जुदे सामान्य और विशेष भाग वाले विकल्पोंसे परे जात्यन्तरभूत सामान्य विशेषात्मक एकरूप वस्तुकी जानकारी हो रही है समस्त वस्तु सामान्यकी अपेक्षा सामान्य है, विशेषकी अपे..। विशेष है वस्तु है वही एक, पर जिस नयकी विवक्षामें निरखा जाता है उस प्रकारसे वस्तुमें तत्त्वका दर्शन होता है। स्वरूपसे अगप देखो तो वस्तु एक अवक्तव्य है। जिसे सामान्य विशेषात्मक कहा जा रहा है। उस सामान्य विशेषात्मक एक-एक अखण्ड द्रव्यका सम्वेदन ज्ञाननेत्र वाले विवेकी पुरुषोंको जिनको स्पष्ट इन्द्रिय बोध है उनको बराबर जच रहा है तो उनके चित्तमें अनाहृत्व कल्पना नहीं ठहर सकती है। जो चक्षु आदिक इन्द्रियोंसे रहित हों, अंध हों, अविवेकी हों उनमें ही वस्तुस्वरूपसे विरुद्ध कल्पनायें सम्भव हो सकती हैं। सो वे कल्पना मात्र हैं। कल्पना कर लेने मात्रसे तत्त्व उस ही प्रकारका हो जाय सो नहीं होता तो यों पदार्थ सामान्य विशेषात्मक ही जाने जा रहे हैं इस कारण एकान्तवाद को कल्पना युक्त नहीं है।

स्वाभावविरुद्धोपलब्धि व स्वभावानुपलब्धि हेतुसे एकान्तका प्रतिषेध

अब वस्तुस्वरूपको दूसरे पहलूसे देखिये वस्तुके एकान्त धर्मकी उपलब्धि नहीं हो रही है। अतएव यह एकान्तकी अनुपलब्धि अनाहूत कल्पनाका अस्त कर देती है। किस प्रकार सो सुनो—अनुमान प्रयोगसे भी जाना जाता है जो प्रत्यक्षसे सिद्ध करने वाला है। सर्वथा एकान्त नहीं है, क्योंकि सर्वथा एकान्तकी उपलब्धि होनेसे। तो यह स्वभाव विरुद्धोपलब्धिनामका हेतु सर्वथा एकान्तके निषेधको करता है सर्वथा एकान्तस्वभावसे विरुद्ध है। अनेकान्तस्वभाव, और उसकी उपलब्धि हो रही है। अतः सर्वथा एकान्तका प्रतिषेध युक्तिसंगत है। अथवा दूसरा प्रयोग देखिये सर्वथा एकान्त नहीं है एकान्तकी ही अनुपलब्धि है अतएव यह हेतु स्वभावानुपलब्धि है। जिस बातको हम सिद्ध करना चाहते हैं उस स्वभावका ही पता नहीं है। तो यों सर्व ओरसे, विधिद्वारसे, प्रतिषेध द्वारसे चक्षु आदिक इन्द्रियोंसे बराबर सम्वेदन हो रहा है कि सर्व वस्तु अनेकात्मक हैं तब एकान्तवाद युक्तिसंगत न ठहरा और जो एकान्तवादी हैं और अपनेको आप्त मानते हैं वे आप्तके अभिमानसे दग्ध हैं और उनका मंतव्य तो स्पष्ट प्रत्यक्षसे ही बाधित हो रहा है। हम जब इन स्थूल पदार्थोंको निरखते हैं तो ये सब सामान्यविशेषात्मक नजर आते हैं। मिट्टीका घड़ा बना, घड़ा बनना तो हुआ मगर मृत्पिण्डका विनाश भी हुआ। तो मृतपिण्ड और घट ये विशेष परिणतियाँ हैं, उन विशेषोंकाभी दर्शन हो रहा है और यह भी दिख रहा है कि घट और मृत्पिण्डमें उपस्थित जो मिट्टी सामान्य है वह तब भी थी अब भी है, घटके फूट जानेपर भी कपाल पर्यायका उत्पाद होगा तब भी मिट्टी रहेगी। इस तरह सामान्य तत्त्वकी तो सदा उपलब्धि है और विशेष तत्त्वकी अपने-अपने अवसरमें उपलब्धि है, यह तो हुई द्रव्य पर्यायके सम्बन्धकी बात। अब द्रव्य और गुणके सम्बन्धमें भी समझें तो द्रव्य है शाश्वत एक स्वरूप अखण्ड और उसमें जो शक्तियाँ पाई जाती हैं,

जिन्हें गुण शब्दसे कह सकते हैं वे हैं अनेक। जैसे आत्मामें ज्ञान दर्शन आनन्द आदि तथा इन पुद्गल पदार्थोंमें रुप रस, गंध, स्पर्श हैं, तो ये विशेष गुण हुए और एक जो निज सामान्य स्वरुप है वह सामान्य हुआ। यों भी पदार्थ सामान्यविशेषात्मक नजर आ रहा। तो अनेकान्तस्वरुप वस्तुकी प्रसिद्धि है और इस अनेकान्त शासनको बताने वाले भगवान अरहंत देव ही हैं और उनके उपदेशमें शासनमें परस्पर कहीं विरोध नहीं है, युक्तिशास्त्रसे विरोध नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि अनेकान्त शासनका प्रणायक अर्हन्त प्रभु निर्दोष है और सर्वज्ञ है।

है का निराकरण क्या, न का निराकरण क्या इस शंकाका समाधान

इस प्रसंगमें शंकाकार कहता है कि सर्वथा एकान्त क्या कहीं किसी समय पाया भी गया या कभी भी किसी समय पाया ही नहीं गया? यदि कहो कि सर्वथा एकान्तवादी किसी समय पाया जाता है उसका निषेध किया गया है तो सब जगह सब समय प्रतिषेध तो सिद्ध नहीं हुआ। पाया तो गया। जब सर्वथा एकान्त किसी जगह किसी समय पाया गया है तो विधि अपने आप सिद्ध हो गयी। तभी तो सर्वथा एकान्त सिद्ध हुआ उसका सर्वथा प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। और, यदि कहो कि सर्वथा एकान्तकी किसी भी समय कभी भी कहीं भी उपलब्धि नहीं है तब तो जो चीज है ही नहीं उसका किसीसे विरोध हो ही कैसे सकता? याने जब एकान्त कभी भी किसी भी समय है ही नहीं तो उसका अनेकान्तसे विरोध हो ही कैसे सकता? याने जब एकान्त कभी भी किसी भी समय है ही नहीं तो उसका अनेकान्तसे विरोध नहीं हो सकता। जो वस्तु हो उसका ही तो किसी प्रकार किसीके द्वारा विरोध किया जाना सम्भव है, और, इसी कारण जब कि एकान्त कहीं किसी समय है ही नहीं यों निषेध तो विधिपूर्वक ही होता है। जो सत् हो उसीको तो हटाया जा सकता है। असत्को क्या हटाया जाय? तो यों सर्वथा एकान्तका प्रतिषेध भी नहीं हो सकता। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि सर्वथा एकान्त विकल्पमें आरोपित है। यद्यपि सर्वथा एकान्त कोई वस्तु नहीं है। सद्भूत नहीं है, असत् है। लेकिन शंकाकारके विकल्पमें तो सर्वथा एकान्त कल्पित है। तो उस कल्पित सर्वथा एकान्तका प्रतिषेध किया जा रहा है और वह प्रतिषेध किया जा रहा है विरुद्धोपलब्धिसे। अर्थात् सर्वथा एकान्तका विरोधी है अनेकान्त सो जब अनेकान्त वस्तुओंमें नजर आ रहा है तो सर्वथा एकान्त अपने आप प्रतिसिद्ध हो जाता है अथवा सर्वथा एकान्तका निषेध हो रहा है। स्वभावानुपलब्धिसे अर्थात् एकान्त स्वभावकी उपलब्धि ही नहीं हो रही है सर्वथा एकान्त है ही नहीं। इस प्रकार यदि कल्पित पदार्थका निराकरण करना न माना जाय तो कोई भी पुरुष अपने इष्ट तत्त्वको सिद्ध नहीं कर सकता और अनिष्ट तत्त्वका प्रतिषेध नहीं कर सकता। क्योंकि है का निषेध क्या किया जाय और न का निषेध क्या किया जाय यह अडंगा सब जगह लगाया जा सकता है। इस से विकल्पित एकान्तका निराकरण किया गया जानना चाहिए।

एकान्तवादके निषेधक प्रत्यक्षप्रमाणकी ज्येष्ठता व गरिष्ठता—मुख्य बात तो यह है कि सर्वथा एकान्तवादका निषेध तो प्रत्यक्षसे ही हो जाता है। एक प्रत्यक्ष ही जो कि अनेकान्तात्मक वस्तुका ज्ञान कर रहा है सामान्य विशेषात्मक एक वस्तुको विषय करता है वही सर्वथा एकान्तकी प्रतीतिका निराकरण कर देता है। एकान्तके मायने वस्तु सामान्यात्मक ही है। इस प्रकारकी प्रतीति अथवा वस्तु विशेषात्मक है इस प्रकारकी प्रतीति इसका प्रत्यक्ष ही निराकरण कर देता है। फिर हम लोगोंको अन्य प्रमाण अनुमान आदिक देनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्ष द्वारा बिना ही प्रयासके इष्ट तत्त्वकी विधि और अनिष्ट तत्त्वका निषेध हो जाता है। प्रत्यक्षसे बढ़कर प्रत्यक्षसे विशेष प्रमाणीक गरिष्ट अन्य अनुमान आदिक नहीं हैं. क्योंकि यदि प्रत्यक्ष प्रमाण न हो तो अनुमान आदिक प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। जब कभी कोई अनुमान बनाया जाता है तो जिस साधनके द्वारा साध्य सिद्ध करना होता है वह साधन प्रत्यक्ष सिद्ध, प्रमाणसिद्ध तो होना ही चाहिये तो देखिये कि प्रत्यक्षके अभावमें अनुमानकी प्रवृत्ति भी घटित नहीं होती। इस कारण अनुमान आदिक प्रमाणोंसे प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ है, महान है। और, समारोपका विशेष रूपसे निराकरण करनेमें समर्थ प्रत्यक्ष है। इस कारण भी प्रत्यक्ष प्रमाण बड़ा है। और, जब प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही वस्तुकी अनेकान्तात्मकता सिद्ध हो जाती है तब एकान्तवादके निषेधके लिये अन्य प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

प्रत्यक्षकी भाँति अनुमान आदिकमें भी ज्येष्ठता व गरिष्ठताकी संभावनाका शंकाकार द्वारा कथन—यहाँपर शंकाकार कहता है कि जैसे दृष्टज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है उसी प्रकार अनुमान आदिक ज्ञान भी प्रमाण माने गए हैं। तब वहां जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ है, महान है क्योंकि वह अनुमान आदिक प्रमाणोंका अग्रेसर है, उन प्रमाणोंसे आगे याने प्रथम प्रथम चलता है, पहिले प्रत्यक्ष प्रमाणसे ज्ञान बनता है उसके पश्चात् अनुमान आदिक प्रमाण बनते हैं इस कारण प्रत्यक्षको ज्येष्ठ कहा है। तो ऐसे ही अनुमान आदिक प्रमाण भी प्रत्यक्षसे ज्येष्ठ हैं, महान् हैं, क्योंकि अनुमान आदिक भी तो प्रत्यक्षके अग्रेसर हो जाया करते हैं। किसी किसी घटनामें अनुमान आदिक प्रमाणोंके बाद प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति देखी जाती है। तब देखिये ! उस घटनामें अनुमान आदिक प्रमाण अग्रेसर हुए। प्रत्यक्ष प्रमाण पीछे हुआ। तो जैसे अग्रेसर होनेके कारण प्रत्यक्षको ज्येष्ठ (महान) मानते हो उसी प्रकार अनुमान आदिक प्रमाण भी अग्रेसर होनेके कारण महान और ज्येष्ठ माना जाना चाहिये। और, भी देखिये ! जिस प्रकार दृष्ट याने प्रत्यक्ष प्रमाणको अविसम्वादक होनेसे महान और अनुमान आदिक प्रमाणोंसे ज्येष्ठ मानते हैं इसी प्रकार अनुमान आदिक प्रमाण भी तो अविसम्वादक हैं, वे भी प्रत्यक्षसे महान और गरिष्ठ हो जायेंगे, क्योंकि अविसम्वादकता सब प्रमाणोंमें मौजूद है। प्रत्यक्ष भी अविसम्वादक

है अतएव प्रमाण है, ऐसे ही अनुमान भी अविसम्वादक है अतएव प्रमाण है। फिर अनुमान आदिक प्रमाणोंसे प्रत्यक्षमें ज्येष्ठत्व और गरिष्ठत्व कैसे व्यवस्थित किया जा रहा ? प्रत्यक्ष तो अनुमान आदिकसे महान हो और अनुमान आदिक प्रत्यक्षसे महान न हो यह व्यवस्था नहीं बनती।

उक्त शंकाके समाधानमें अनेक युक्तियोंसे प्रत्यक्षकी ज्येष्ठता व गरिष्ठताका समर्थन—अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह शंका युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि साधन आदिकको विषय करने वाले प्रत्यक्षका अभाव होनेपर अनुमान आदिक अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अनुमान बनाया जायगा तो उसमें जो भी साधन बताया जाय वह तो पहिले प्रमाण सिद्ध होना चाहिए। और चूंकि अनुमान प्रमाण बनाया जा रहा है तो अनुमान प्रमाण बनाने वाले हेतुको प्रत्यक्षका विषय बनना चाहिए। यदि उस साधनको अन्य अनुमानसे सिद्ध मान करके अनुमान प्रमाणमें भी तो साधन होगा, उस साधनकी अन्य अनुमानसे सिद्धि की जानी पड़ेगी। इस तरह अनवस्था दोष आयगा। तब प्रत्यक्ष ही एक ऐसा प्रमाण है जो नियतरूपसे समस्त प्रमाणोंका अग्रेसर सिद्ध होता है।। अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानसे निर्णय किए जानेके बाद ही अन्य प्रमाणोंकी उपपत्ति होती है। अतः प्रत्यक्ष ही ज्येष्ठ प्रमाण है। प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति तो अनुमान आदिक प्रमाणोंके बिना ही हो जाती है परन्तु अनुमान आदिक प्रमाण प्रत्यक्षके मुकाबलेमें पुरस्सर नहीं हैं अर्थात् पहिले नहीं हुआ करते। अनुमान आदिक प्रमाणोंकी प्रमाणता कायम करनेके लिए पहिले प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ करता है, पर अन्य प्रमाणोंमें यह खूबी नहीं है कि प्रत्यक्षकी प्रमाणता कायम करनेके लिए अन्य प्रमाणोंको पहिले होना पड़ेगा। इस कारण अन्य प्रमाणोंमें ज्येष्ठपनेका योग नहीं मिलता। प्रत्यक्ष ही अनुमान आदिक प्रमाणोंसे गरिष्ठ (बड़ा) है। साथ ही प्रत्यक्ष प्रमाण संशय विपर्यय, अनध्यवसाय, इन तीन तीन दोषोंका विशेषरूपसे विच्छेद करता है। जिस तरह संशय आदिकका निराकरण प्रत्यक्षसे होता हुआ देखा गया है, किसी भी विशेष ज्ञेयके सम्बन्धमें प्रत्यक्षने जो जाना उस जाननेके बाद फिर वहाँ कुछ आकांक्षा नहीं रहती, सो जिस तरह प्रत्यक्ष प्रमाणसे संशयादिकका विच्छेद निर्दोष रूपसे हो जाता है उस तरह अनुमान आदिक प्रमाणोंसे संशय आदिकका व्यवच्छेद नहीं होता। यद्यपि अन्य प्रमाणोंसे भी समारोपका खण्डन तो होता है, क्योंकि यदि संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय इन दोषोंमेंसे कोई दोष रहे तो प्रमाण नहीं बनता। तो अन्य प्रमाणोंमें भी सामर्थ्य तो है यह कि अनुमानादि प्रमाण भी संशयादिक दोषका निराकरण करता है लेकिन अनुमानादिसे सामान्यरूपसे संशयादिकका निराकरण प्रत्यक्षसे होता है वैसे विशेषरूपसे अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा नहीं होता किन्तु अनुमानादि प्रमाणोंसे सामान्यतया संशयादिकका व्यवच्छेदक होता है। एक अन्य बात यह भी समझ लेना चाहिए इस प्रसंगमें कि प्रत्यक्ष प्रमाण इसलिए भी महान है कि वह अन्वय और व्यतिरेकका स्वभाव भेद स्पष्ट दिखा देता है। किसी पदार्थका अस्ति-

स्व समझा जा रहा हो वह तो है अन्वय और किसी पदार्थका अभाव जब रहा हो वह है व्यतिरेक। प्रत्यक्ष प्रमाणमें दोनों ही खासियत हैं कि वह विधि अर्थात् सद्भाव सिद्ध करता है और जो नहीं है उसका अभाव प्रदर्शित करता है, इस कारण प्रत्यक्ष स्वयं महान है। प्रत्यक्ष ही अपने विषयमें सामान्य विशेषात्मक रूप व्यतिरेकका निषेध करता है। तो इस तरह अन्वय और व्यतिरेकका स्वभावभेद दिखानेका प्रयोजन भरा हुआ है प्रत्यक्षमें, इस कारण भी प्रत्यक्ष अन्य प्रमाणोंमें ज्येष्ठ है। लोग भी प्रत्यक्षसे जाने हुए पदार्थको पूर्णरूपसा मानते हैं, और कहते भी हैं कि क्या तुमने यह आँखों देखा या केवल दूसरेका सुना-सुना ही कह रहे हो ? तो एक दूसरेसे सुनकर आयी हुई बातमें प्रमाणता कम है और स्वयं किसी भी इन्द्रिय द्वारा किसी भी विषयका प्रत्यक्ष करले तो उसमें प्रमाणता विशेष और निर्दोष होती है। इस कारण सब प्रमाणोंमें प्रत्यक्ष प्रमाण ही महान है और एकान्तवादका निषेध प्रत्यक्ष प्रमाणसे हो ही जाता है, अतः एकान्तवादका मंतव्य प्रत्यक्षसे जब बाधित हो जाता है तब उस दर्शनके रचने वाले कोई अपने आपको आप्त कहें यह उनका केवल अहंकार है।

अन्वयवचनसे अर्हन्तके आप्तपना कहकर व्यतिरेकवचन द्वारा अन्य के अनाप्तपनेके कथनकी अनर्थकताके प्रसंगकी शंका व उसका समाधान – अब क्षणिकवादी शंकाकार पूछते हैं कि जब पहिले "स त्वमेवासि निर्दोषो" इस कारिका द्वारा अरहंत भगवानका शासन अबाधित है और परमात्मापन अरहंतमें ही सिद्ध है यह बात कही जा चुकी है तब फिर यह कारिका कहकर कि "त्वन्मतामृत-बाह्यानां", सर्वथा एकान्तमत प्रत्यक्षमें बाधित होता है और एकान्तवाद शासनके प्रणेता परमात्मा नहीं हैं इस तरहसे अन्य एकान्तका और अन्यकी अनाप्तताका निराकरण करना यह तो सामर्थ्यसे ही बन गया था। जब भगवान अरहंतको आप्त सिद्ध कर दिया है तो उससे ही यह सिद्ध हुआ कि अन्य अनाप्त है अथवा अनेकान्त को जब अबाधित सिद्ध कर दिया है तो उससे ही सिद्ध है कि एकान्तवाद बाधित है फिर अलगसे दूसरी कारिका कहकर ग्रन्थकारने अधिक वचन क्यों कहा ? इसके समाधानमें कहते हैं कि अनेकान्तकी उपलब्धि होना और एकान्तकी अनुपलब्धि होना इन दोनोंमें एकता है। अर्थात् दोनोंका सम्बन्ध है अथवा सादृश्य है यह बात दिखाने के लिये अन्वय और व्यतिरेक रूपसे दोनों कारिकाओंका वर्णन किया है। अथवा इस प्रसंगमें जो एक अन्य मंतव्य है जैसे कि क्षणिकवादियोंके संतोंने कहा है कि अन्वय और व्यतिरेकमेंसे किसी एकके द्वारा पदार्थके जान लेनेपर फिर दोनोंका प्रतिपादन करना अथवा पक्ष, प्रतिज्ञा, निगमन आदिकको कहना भी निग्रहस्थान है इस मंतव्यके निषेधके लिये भी दोनों कारिकाओंका प्रयोग किया है। कह दिया ! निग्रहस्थानका लक्षण क्षणिकवादियोंने कि अन्वय और व्यतिरेकमेंसे किसी एक उपाय द्वारा जब पदार्थ जान लिया गया तब दूसरी बात कहना निग्रहस्थान है। सो यह बात युक्त नहीं है।

स्वपक्षको सिद्ध करने वाले वादीको वचनाधिक्यका उपालम्भ देकर पराजयपात्र कह सकनेकी अशक्यता—शंकाकार पूछते हैं कि यह बात युक्त क्यों नहीं है ? बात तो जचती है कि जब एक अन्वय विधिसे किसी मंतव्यका साधन कर दिया गया है तब व्यतिरेक रूपसे उसे कहनेकी आवश्यकता क्यों है ? वे तो अधिक वचन हुए। वाद समयमें तो याने विद्वानोंकी सभामें शास्त्रार्थके समय संक्षिप्त ही बोलनेमें बुद्धिमानी जचती है। उत्तरमें कहते हैं कि एक अन्वयके द्वारा पदार्थके समझ लेनेपर भी व्यतिरेकके द्वारा जो उस ही पक्षका समर्थन किया गया है वह असंगत नहीं है। कारण कि भला ये शंकाकार यह बतायें कि प्रतिवादी जो इसमें निग्रहस्थान बता रहा है अर्थात् वादीकी हार कह रहा है सो क्यों उस वादीको पराजयके अधिकरणकी बात कह रहा है जो साधनकी सामर्थ्यसे जिसमें कि विपक्ष व्यावृत्तिका लक्षण निर्दोष पाया जा रहा है उस साधन सामर्थ्यसे अपने पक्षको सिद्ध कर रहा है याने सिद्ध करने वाले वादीको प्रतिवादी बता रहे हैं कि वचनोंकी अधिकता हो जानेके कारण वह पराजयका पात्र है अथवा अपने पक्षको सिद्ध न कर सकने वाले वादीके प्रति प्रतिवादी कह रहा है कि वचनाधिक्यसे वादीका पराजय है। यदि पहिली बात कहते हो कि जिस वादीने साधन सामर्थ्यसे अपने पक्षको भली भांति सिद्ध कर लिया उस ही वादीके प्रति प्रतिवादी कह रहा है कि सिद्ध हुई बातको फिर व्यतिरेकादिक द्वारा पुनः समर्थन करनेमें वचन अधिक हो जाते हैं और वचनोंकी अधिकताके कारण वादीका पराजय है। सो यह बात तो युक्तिसंगत नहीं है। जब निर्दोष साधनकी सामर्थ्यसे अपने पक्षको वादीने सिद्ध कर लिया, अब उस पक्षका साधन वादी अन्य साधनसे कर रहा है तो इसमें तो सभासदोंके सामने उसकी जीत ही हुई है। अब केवल वचनोंकी अधिकतासे उलहना देनेके बहानेसे उसका पराजय बताना युक्तिसंगत नहीं है। कोई पुरुष अपने मंतव्यको साधित करके यदि वह बड़ा हर्ष मनाये, नाचे भी तब भी दोष नहीं है। दोष तो तब था जब वादी अपने पक्षको सिद्ध न कर सकता होता। अन्वयसे वादीने अपने इष्ट तत्त्वकी सिद्धि कर दी। अब व्यतिरेक द्वारसे भी उस ही इष्ट तत्त्वकी सिद्धि करदे तो इसमें कोई दोष नहीं है। व्याप्ति भी दो प्रकारकी बताई गई है—अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति। दोनों व्याप्तियोंसे जब साध्य साधनका सम्बन्ध दृढ़ बता दिया जाता है तब पक्षकी सिद्धि प्रबल रीतिसे हो जाती है। यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है कि वादीने प्रतिवादीके पक्षका निराकरण कर दिया। अब ऐसा प्रतिवादी जिसकी बात निराकृत हो गई है वह किसी भी बहानेसे वादीके पराजयकी बात बताये यह तो हास्य जैसी बात है। जब वादीने प्रतिवादीके पक्षका निराकरण कर दिया तो प्रतिवादी ही हारका पात्र है ऐसा सभासदोंने पहिले ही निश्चय कर लिया है। अब किसी प्रकार दोंदकर वादीको हरानेकी बात करना यह तो इस प्रकार है जैसे कि कोई हारा हुआ पुरुष झुंझलाकर किसी भी बहानेसे दूसरेको चुप करना चाहता है। तो अपने पक्षको सिद्ध कर देने

वाले वादीको वचनोंकी अधिकताका उपालम्भ देकर हारकी बात नहीं बतायी जा सकती।

स्वपक्षसिद्धि व परसाधन दूषण बताये बिना प्रतिवादीकी अन्यपराजय बता सकनेकी अशक्यता—यदि यह कहो जैसा कि दूसरे विकल्पमें पूछा गया कि अपने पक्षको सिद्ध न कर सकने वाले वादीकी हार यह प्रतिवादी वचनाधिक्य दोष दिखाकर सिद्ध कर रहा है तो इस दूसरे विकल्पके सम्बन्धमें भी शंकाकार यह बताये कि उस समय प्रतिवादी क्या अपने पक्षको सिद्ध करता हुआ वादीकी हार बता रहा है या अपने पक्षको सिद्ध न करता हुआ वादीकी हार बता रहा है ? यदि कहो कि प्रतिवादी अपने पक्षको सिद्ध करता हुआ वादीकी हार बता रहा है तब तो अपने पक्षकी सिद्धिके ही कारण वादीकी हार हुई है। उसे दोनोंकी अधिकताकी बात कह कर हार बताना अनर्थक है, क्योंकि वचन भी अधिक हो जायें, लेकिन प्रतिवादी यदि अपना पक्ष सिद्ध नहीं कर पाता है तो प्रतिवादीकी जीत नहीं कहला सकती। यदि कहो कि प्रतिवादी अपने पक्षको सिद्ध न करता हुआ ऐसे वादीकी हार बता रहा है जो वादी अपने पक्षको भी सिद्ध नहीं कर पा रहा। तो इस द्वितीय विकल्पमें या तो यह कहा जायगा कि वादी और प्रतिवादी दोनोंकी एक साथ हार हुई है या यह कहा जायगा कि दोनोंकी एक साथ जीत हुई है, क्योंकि वादी और प्रतिवादी दोनोंमें ही अपने पक्षकी सिद्धि न कर सकनेकी समानता है।

साधन सामर्थ्यको अज्ञानसे पराजय कहनेका शंकाकार द्वारा कथन—अब शंकाकार कहता है कि अपने पक्षकी सिद्धि हुई अथवा असिद्धि हुई इसके कारण जीत हारकी व्यवस्था नहीं है। अपने पक्षकी सिद्धि और असिद्धि तो उन दोनोंके बोलनेके ज्ञान और अज्ञानपर निर्भर है। ज्ञान है तो पक्षकी सिद्धि कर लेंगे, अज्ञान है तो अपने पक्षकी सिद्धि न कर सकेंगे। उससे लोकमें जीत हारकी व्यवस्था नहीं बनती किंतु बात वहाँ यह है कि वादीने अन्वय सिद्धि द्वारा अपने पक्षकी सिद्धि कर दी और अब व्यतिरेक वचन द्वारा भी अपने पक्षकी सिद्धि कर रहा है, तो जो बात एक अन्वय साधनसे जान ली गई है उसको व्यतिरेक वचन द्वारा फिरसे जनानेका जो यत्न किया जा रहा है तो यहाँ उभय वचन बन गया अर्थात् अन्वय वचन भी कहा और व्यतिरेक वचन भी कहा। तो इससे यह सिद्ध होता है कि वादीको अपने पूर्वकथित साधन वचनकी सामर्थ्यका ज्ञान नहीं है। जो पहिले उपायसे उसने अपने पक्षकी सिद्धि की तो उसे स्वयं ही यह ज्ञान नहीं है कि उसका साधन इतना समर्थ है कि उस साधन के द्वारा इस पक्षके मंतव्यकी निर्दोषरूपसे सिद्धि होती है तभी तो उसने असंतुष्ट होकर व्यतिरेक वचन द्वारा फिर मंतव्यके सिद्ध करनेका प्रयास किया। तो इतना तो जाहिर हो गया कि वादीको अपने साधन वचनकी सामर्थ्यका ज्ञान नहीं है। परन्तु प्रतिवादीने इस अज्ञानको प्रकट कर दिया कि इस वादीने अधिक वचन बोला है तो

प्रतिवादीको वादीकी कमजोरीका ज्ञान हो गया ना ! तो इस ज्ञान और अज्ञानके कारण वादी और प्रतिवादीकी जय और पराजयकी व्यवस्था है वह अयुक्त नहीं हो सकती। इस कारण इस कारिका द्वारा अनेकान्त शासनको अबाधित कहकर फिर दूसरी कारिका द्वारा समर्थ लब्ध एकान्त निराकरणको ज्ञान कहना यह निग्रह स्थान से पृथकभूत नहीं हो सकता है। अतः द्वितीय कारिकाका वचन कहना युक्तिसंगत नहीं है।

जयपराजयकी व्यवस्थाका समाधानात्मक प्रतिपादन—उक्त शंका युक्तिसंगत नहीं है। यदि साधन वचनकी सामर्थ्यके अज्ञानसे पराजयकी बात कही जाय तो फिर वादी और प्रतिवादीका पक्ष और प्रतिपक्षका कहना व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि किसी भी पक्षमें चाहे नित्य हो, अनित्य हो, भेद हो अभेद हो, किसी भी पक्ष में ज्ञान और अज्ञान दोनों ही सम्भव हो सकते हैं। शब्दादिकमें जब नित्यत्वके ज्ञान और अज्ञानकी परीक्षा की जा रही हो उस समयमें यदि वादीको ज्ञान है तो प्रतिवादीको अज्ञान है। तो ऐसा ज्ञान और अज्ञान जय और पराजयका कारण न बन सके, यह बात नहीं कही जा सकती। जैसे कि साधन सामर्थ्यके ज्ञान होनेपर जय और साधन सामर्थ्यके अज्ञान होनेपर पराजयकी व्यवस्था बनायी है तब इसी तरह किसी भी पक्षके रखनेमें और उस पक्षके ज्ञान अज्ञानकी परीक्षा करनेमें एक को ज्ञान है तो दूसरेको अज्ञान है। वहाँ फिर जय पराजयकी व्यवस्थाका लोप कैसे कर सकेंगे ? यदि कहो कि जब साधनसामर्थ्यका ज्ञान होना जयका कारण है और उस का अज्ञान होना पराजयका कारण है तब वादी प्रतिवादी दोनोंके एक साथ साधन सामर्थ्यका ज्ञान होना मान लिया जायगा, यों युगपत् दोनोंके साधन सामर्थ्यका ज्ञान होना मान लिया जाय तो फिर वादी और प्रतिवादीमें किसकी जीत और किसकी हारका निर्णय बन सकेगा ? क्योंकि साधन सामर्थ्यका तो ज्ञान दोनोंके मान लिया गया। यदि कहो कि किसीका भी जय पराजय नहीं हुआ। जिस समय साधन सामर्थ्यका ज्ञान वादी और प्रतिवादी दोनोंको हो रहा हो, उस समय किसीका भी जय और पराजय नहीं हुआ। तब फिर उत्तरमें कहते हैं कि स्याद्वादियोंके यहाँ वचनोंकी अधिकता करने वालेको जैसे साधन सामर्थ्यका ज्ञान है उसी प्रकार प्रतिवादीको भी चूंकि वचनोंकी अधिकताका ही दोष बताया है प्रतिवादीने, इस कारण प्रतिवादीका उसके दोष मात्रका ही ज्ञान सिद्ध हुआ, वह गुणकी परीक्षा न कर सका। यह नियम तो नहीं है कि जो जिसके दोषको जानता है वह उसके गुणको भी जान ले। किसी प्रकारके विषैले द्रव्यमें मारनेकी शक्ति विदित हो जाय तो भी उस विषैले द्रव्यमें कोढ़ आदिकको दूर करनेकी शक्ति है इसका ज्ञान न भी हो यह भी तो संभव है। किसी वस्तुके दोषका जानकार उस वस्तुके गुणको भी जानले, ऐसा नियम तो नहीं बन सकता है। इस कारण साधन सामर्थ्यका दोनोंके किसीके भी ज्ञान हो अथवा किसीका भी जय पराजय न माना जाय तब उसमें वादकी बात ही क्या रही ?

वचनाधिक्यसे जय पराजयके निर्णयकी असंगता— अब यहाँ शंकाकार कहता है कि भाई जय-पराजयकी व्यवस्थामें तो यह तथ्य है कि वादीको तो अपना निर्दोष साधन बताना चाहिए और प्रतिवादीको जो कि दूषण निहारके लिए तत्पर है उसको उसका दूषण बताना चाहिए। अब ऐसी व्यवस्था होनेपर प्रतिवादीने सभा में वादिका असाधनाङ्ग वचन प्रकट कर दिया अर्थात् साधनको सामर्थ्यका इसके ज्ञान नहीं है यह जाहिर कर दिया, असाधनाङ्ग वचनका अर्थ यह है कि साधर्म्य वचन बोल देनेपर वैधर्म्य वचनकी बात अपने आप सिद्ध हो जाती है। अब उसको पुनः कहें तो इसके मायने यह है कि पहिले जो साधनकी बात नतायी थी उस वादीको उसके सामर्थ्यका ज्ञान नहीं है। इस प्रकार असाधनां वचनकी बात प्रकट करनेपर यह सिद्ध हो गया कि वादीको सही साधनके प्रयोग करनेका अज्ञान है अथवा वह अपने दिए हुए साधनको सामर्थ्यको नहीं जान पा रहा है तब इसका पराजय हो गया। और, यहाँ प्रतिवादीने वादीके द्वारा कहे गए साधनमें दूषण है ऐसा प्रकट किया तो प्रतिवादीको दूषणका ज्ञान है ऐसा निर्णय होनेपे प्रतिवादीका जय हो गया है। उक्त शंका के समाधानमें कहते हैं कि यह बात भी युक्तिसंगत नहीं है। इस सम्बन्धमें विकल्प उठाकर जब निर्णय करने लगते हैं तो शंका निराकृत हो जाती है। अच्छा बताओ कि वह प्रतिवादी क्या निर्दोष साधन कहने वाले वादीका वचनाधिक्य दोष प्रकट कर रहा है या सदोष साधन कहने वाले वादीका वचनाधिक्य दोष प्रकट कर रहा है? अर्थात् प्रतिवादी जो वादीके लिए यह दोष दे रहा है कि देखो! इस वादीने व्यर्थ ही अधिक वचन बोल डाला तो इस प्रकारका जो दोष प्रतिवादी दे रहा है? क्या निर्दोष साधन कहने वाले वादीको दोष लगा रहा है या सदोष साधन कहने वाले वादीको वचनाधिक्यका दोष लगा रहा है। यदि कहो कि निर्दोष साधन कहने वाले वादीको वचनाधिक्यका दोष लगा रहा है तो भला बताओ कि निर्दोष साधन कह रहा है वादी और उसके सम्बन्धमें प्रतिवादी यह कह रहा कि इसको साधनके स्वरूप का ज्ञान नहीं है। यह बात कैसे फिट बैठ सकती है? क्योंकि वादीके उस वचनमें प्रतिवादी ऐसा परिमाण कैसे कर सकता है कि इसको इतना ही मात्र ज्ञान है। और, साधन सामर्थ्यके सम्बन्धमें ज्ञान नहीं है। वह तो निर्दोष साधन कह रहा है, उसको क्या दोष लगाया जा सकता? यदि कहो कि सदोष साधन कहने वाले वादीके लिये प्रतिवादी वचनाधिक्यका दोष लगा रहा है तब देखिये व्यामोहकी बात कि यह प्रतिवादी उस सदोष साधनके दोषका तो ज्ञानी है नहीं और वचनाधिक्यके दूषणकी बात लगा रहा है, प्रतिवादीको साधनाभासके दूषणका ज्ञान नहीं है क्योंकि प्रतिवादने वचनाधिक्यका दोष प्रकट किया है। साधनाभासकी बात नहीं बतायी है। तब प्रतिवादीको साधनाभासके दूषणका ज्ञान तो न रहा, और साधनाभासका दूषण यदि बताते तब तो वादीकी हार थी और प्रतिवादीकी जीत थी। अब साधनका दोष यों बताया नहीं प्रतिवादीको साधनाभासके दोषका ज्ञान ही नहीं, तो अन्य-अन्य कुछ

भी बात कहता रहे, प्रतिवादीकी जीत सम्भव नहीं हो सकती।

सम्यक्साधन व साधनाभासके निर्णयसे ही जय पराजय व्यवस्थाका प्रतिपादन— शंकाकार कहता है कि वादीने जो वचनाधिक्य किया है अर्थात् प्रकृत बातकी सिद्धि सीधे सादे अन्वय वचनोंसे हो रही है अब उसे अन्यके प्रतिषेधरूपको व्यतिरेकरूपसे भी कह डाला है। तो ये उसके अधिक वचन हैं, बस वचनोंकी अधिकताका दोष तो प्रतिवादीको ज्ञात है ना, तो उस दोषके ज्ञानसे ही यह प्रतिवादी दूषणका ज्ञाता बन गया। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यदि वचनाधिक्य दोषके ज्ञानके कारण ही दूषणज्ञ माना जाय प्रतिवादीको तो साधनाभासका ज्ञान न होनेसे अर्थात् प्रतिवादीने उस सदोष साधनका दूषण तो नहीं बताया। यों साधनाभासका ज्ञान न होनेसे यह प्रतिवादी दूषणज्ञ न भी रहा, फिर कैसे कहा जा सकता एकान्तसे कि यह प्रतिवादी वादीको जीत हो लेगा। देखो! साधनाभासका स्पष्ट न कर सका, प्रकट न कर सका, यह घटना तो प्रतिवादीकी हारको ही प्रसिद्ध कर रही है। यदि वचनाधिक्य दोषके प्रकट करनेसे ही प्रतिवादीकी जीत मान ली जाती है और ऐसी जीत मानकर फिर साधनाभासको प्रकट न करनेसे प्रतिवादीकी हार सिद्ध हो गई और इस तरह प्रतिवादीकी हार सिद्ध होनेपर वचनाधिक्यके दोषको प्रकट कर देना प्रतिवादीकी जीतके लिए कैसे सम्भव हो सकता है? सारांश यह है कि वादीके साधनमें दूषण बताकर ही हार करायी जा सकती है। अन्य-अन्य उपालम्भ या बहाने करके जय पराजयकी व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती है। तो ऐसे जयपराजयके मंतव्यका निग्रह करनेके लिए आचार्यने दो कारिकाओंसे अनेकान्तके शासनकी प्रसिद्धि की है।

साधनाभास व वचनाधिक्य दोनोंको बताते हुए प्रतिवादीकी जयकी निश्चितताका शंकाकार द्वारा कथन व उसका समाधान—शंकाकार कहता है कि प्रतिवादी साधनाभासका भी प्रयोग कर रहा है और वचनाधिक्यका भी प्रयोग कर रहा है। दोनोंको प्रकट करता हुआ प्रतिवादी जयको प्राप्त होता ही है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि देखिये! इस शंकाकारके बहुत बड़ी द्विष्टकामिता हुई है, कैसी प्रबल द्वेषबुद्धि हुई है। पहिले तो यह साधर्म्य वचनसे ही अर्थका ज्ञान होनेपर वैधर्म्यवचन अनर्थक है, ऐसा कहकर वैधर्म्यवचनका द्वेष कर रहा था लेकिन यहांपर साधनाभासके प्रकट करनेसे ही जब वादीका तिरस्कार सिद्ध हो गया, पराजय बन गया, फिर भी उसको वचनाधिक्यका दोष और प्रकट किया जा रहा है। अनर्थक मानकर भी तो यह कितनी बड़ी अधिक द्वेषकी इच्छा है। निष्कर्ष यह है कि साधनाभास कहकर जब वादीका पराजय कर दियो गया तब वचनाधिक्यकी बात कहना यह क्या अनर्थक न होगा? क्या यह प्रतिवादीके लिए निग्रह स्थान न बनेगा? लेकिन इसका कुछ ध्यान न रखकर पराजयको प्राप्त हुए वादीके प्रति स्वयं बहुत

अनर्थक वचन बोल जाय और साधर्म्य वचनसे पदार्थका ज्ञान होनेपर भी वैधर्म्यवचन जो कि अपेक्षासे प्रयोजक है उसे अनर्थक बताकर उससे द्वेष किया जाय यह तो प्रतिवादीकी बहुत तीव्र द्वेषकी कामना है।

अर्थापन्नके पुनर्वचनमें द्विष्टत्वका शंकाकार द्वारा पुनः कथन व उसका समाधान—अब शंकाकार कहता है कि हम वचनाधिक्यमात्रसे द्वेष नहीं करते, किन्तु जब अर्थसे स्वय बात आ गई इसी प्रथम शब्द प्रयोगसे ही जो बात समर्थित हो गई उसके व्यतिरेक शब्द द्वारा फिरसे कह देना इस कथनको हम द्विष्ट समझते हैं। अर्थात् यह कथन चित्तमें दोषके विस्तारको लिए हुए है। उत्तरमें कहते हैं कि यह बात भी संगत नहीं है, क्योंकि इस तरह तो यह भी कहा जा सकता कि प्रतिज्ञाके कहनेमें जब दोष प्रकट कर दिया गया तो उससे ही निगमन प्रयोगके दोषको भी न प्रकट करना चाहिए, वहाँ भी द्विष्टकामिता बन जाती है। जब कि प्रकृतमें यह बात कह रहे हो कि कोई साधर्म्य वचन बोला गया, अब उससे ही निषेध किए जाने योग्य वैधर्म्य का निराकरण हो ही जाता है, स्वयं अर्थसे सिद्ध हो जाता है, फिर उसका कहना यह है द्विष्ट दूषित। केवल वचनाधिक्य मात्रसे हम द्वेष नहीं कर रहे। इस शंकाका यह समाधान है कि ऐसे ही कोई अनुमान प्रयोग किया गया वहाँ प्रतिज्ञादोष दिखाकर फिर निगमनदोष नहीं कहना चाहिये। क्षणिकवादी केवल हेतु प्रयोगको ही सत्य और सार्थक मानते हैं। प्रतिज्ञा निगमन इन बातोंको अनर्थक मानते हैं और कोई प्रतिज्ञा और निगमनका प्रयोग करे तो उसका पराजय बता देते हैं यों समझिये कि अपने आपमें इतनी तीव्र बुद्धिमानीकी अहंमन्यता जाहिर करते हैं कि हेतु और साध्य से ही झट समझ जाना चाहिये तब तो वह वादका पात्र माना जाता है और इतनी कुशल बुद्धि नहीं है तो वह वादका पात्र नहीं, पराजयका पात्र है। कुछ ऐसी कामना रखकर क्षणिकवादी प्रतिज्ञा और निगमन आदिकके प्रयोगको दूषित मानते हैं। तो देखिये कि जब प्रतिज्ञाके वचनोंमें दोष सिद्ध कर दिया तो प्रतिज्ञावचनका दोष साबित हो जानेसे ही निगमनके वचनका दोष अपने आप सिद्ध हो जाता है। फिर एक दोष प्रकट नहीं करना चाहिए, यह प्रसंग आ जायगा। निगमन कहते हैं प्रतिज्ञाके दुहराने को। और जब प्रतिज्ञाका वचन ही दूषित बता दिया तो उसके दुहरानेकी बात तो दूषित है ही। यह तो अपने आप सामर्थ्यसे जान ली गई ना, फिर प्रतिज्ञावचनके दोषको प्रकट करके निगमन वचन दोषको प्रकट करना यह क्या दूषित प्रयत्न नहीं है। फिर तो निगमन वचनके दोषको भी प्रकट न किया जा सकेगा।

अदोषोद्भावनके भयसे निगमनवचनका दुष्टत्व कहनेकी आवश्यकता का शंकाकार द्वारा कथन व उसका समाधान—शंकाकार कहता है कि यद्यपि प्रतिज्ञा वचनके दोषको जाहिर करनेसे निगमन वचन दूषित है यह बात अर्थसे आ गई अपने आप सिद्ध हो गई, फिर भी निगमन वचनके दोषका उद्भावन करना इस-

लिए जरूरी है कि यदि निगमन वचनको दूषित नहीं बताया जाता है तो फिर निगम का वचन निर्दोष हो जायेगा, यह आपत्ति आयगी। और इस भयसे कि कहीं निगमनका वचन निर्दोष न हो जाय इस ध्यानसे निगमन वचनको दूषित किया जाता है। प्रतिज्ञावचन दोषसे निगमन वचनकी दूषितता यद्यपि सिद्ध हो गयी फिर भी अदोषके उद्भावनके भयसे निगमन वचनकी द्विष्टता फिर भी कहनी पड़ती है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि फिर यही बात तो साधर्म्य वचन कहनेपर भी जो वैधर्म्य निराकरणकी बात की जाती है वह सिद्ध हो जायगी। यहाँ भी यह मान लेना चाहिए कि यद्यपि साधर्म्य वचन कहनेसे अर्थात् किसी बातको विधिरूपमें सीधे शब्दोंमें वर्णन करनेसे यद्यपि वैधर्म्यकी बात अपने आप सिद्ध हो जाती है फिर भी वैधर्म्य वचन इसलिए कहना आवश्यक है कि यदि वैधर्म्य वचनको दूषित नहीं किया जाता है तब वैधर्म्य वचन साधनका अंग हो जायगा, इस भयसे वैधर्म्य वचनको फिरसे कहा गया है इस सम्बन्धमें जो भी आप आक्षेप समाधान करेंगे वही समाधान वैधर्म्य वचनके सम्बन्ध में भी होगा, क्योंकि निगमन वचनमें अत् वैधर्म्य वचनमें कोई विशेषता नहीं है।

साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों वचनोंकी साधनाङ्गता— कहीं साधर्म्य ही साधनका अङ्ग हो या वैधर्म्य ही साधनका अङ्ग हो, ऐसा एकान्त नहीं है। साधर्म्य और वैधर्म्य याने अन्वय व्यतिरेक दोनोंका कथन साधनका अंग बनता है। जैसे कि अनुमान प्रयोगमें अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति दोनोंका प्रयोग हेतुकी निर्दोषता को साबित करता है। इसी प्रकार किसी भी प्रकरणमें, कथनमें किसी तत्त्वका विधि रूपसे वर्णन करना और उससे विपरीत अतत्त्वका निषेध रूपसे वर्णन करना ये दोनों ही अन्वय और व्यतिरेक विधिसे किए जाने वाले वर्णन प्रकृत भावके साधक होते हैं, तब साधनका अंग न केवल साधर्म्य ही रहा और न केवल वैधर्म्य ही रहा, किन्तु पक्षधर्मत्वकी तरह साधर्म्य और वैधर्म्य ये दोनों ही साधनके अंग कहलायेंगे। जैसे क्षणिकवादियोंने साधनको त्रिरूप माना है अर्थात् जहाँ पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति ये तीन धर्म पाये जायें वही साधन सत्य है, ऐसा क्षणिकवादियोंने स्वीकार किया है। तो जैसे पक्षसत्त्व कहा तो इसमें विधिरूप बात आयी। सपक्षसत्त्व कहा तो इसमें भी विधिरूप बात आयगी और विपक्षव्यावृत्ति कहा तो इसमें व्यतिरेककी बात आ गई। तो देखिये, जब साधनका पक्ष तीन रूपोंसे बताया जा रहा है तो उसमें भी तो अन्वय और व्यतिरेककी बात आ गई। इसी प्रकार किसी भी तत्त्व को बतानेके सम्बन्धमें अन्वयविधि और व्यतिरेक विधिसे उसका कथन किया जाय तो वह विरुद्ध बात नहीं होती।

स्वपक्षकी सिद्धि और असिद्धिके कारणसे ही जय पराजयकी व्यवस्था की अशक्यता— उक्त कथनसे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान और अज्ञान मात्रके कारणसे जय और पराजयकी व्यवस्था करना शक्य नहीं है। अर्थात् यह बताकर कि इसको

साधनकी सामर्थ्यका ज्ञान नहीं है निग्रहपात्र बता देना यह युक्त नहीं है। निरखना यह चाहिए कि वादीने जो साधन कहा है वह साधन दोषसे रहित है अथवा नहीं। यदि दोषरहित नहीं है, सदोष है वह साधन तो उसके साधनको सदोष बताना चाहिए। उसका दोष साबित करे तब तो वादीका पराजय कहलायेगा, लेकिन वादीके कहे हुए साधनमें तो कोई दोष बता नहीं सकता प्रतिवादी और वचनाधिक्य आदिक या इस साधन सामर्थ्यका अज्ञान बताकर उसके पराजयकी बात कहे यह बात युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसे कथनमें तो पक्ष और प्रतिपक्षका कहना ही व्यर्थ हो जायगा। यदि जय और पराजयको अपने पक्षकी सिद्धि और स्वपक्षकी असिद्धिके कारणसे बताया जाय तो यह बात निर्दोष बनेगी, जाने जो पुरुष अपने पक्षकी सिद्धि कर देगा वह तो है जय शील और जो पुरुष अपने पक्षकी सिद्धि न कर सकेगा वह है पराजयका पात्र। इस तरह जय और पराजयकी व्यवस्था बनाना तो निर्दोष है और ऐसे निर्णयमें पक्ष प्रति-पक्षके कहनेकी व्यर्थता भी नहीं होती है, क्योंकि वादी और प्रतिवादी इन दोनोंमेंसे किसीको किसी प्रकारसे अपने पक्षकी सिद्धि यदि हो जाती है तो दूसरेके पक्षकी सिद्धि न हुई। ये दोनों बातें बनी, इस कारणसे एक साथ वादी और प्रतिवादीका जय और पराजय न बताया जा सकेगा। तो अपने पक्षकी सिद्धिसे जय होती है और स्वपक्षकी असिद्धिसे पराजय होती है, इस कथनमें न तो पक्ष प्रतिपक्षके परिग्रहकी व्यर्थताका दोष आयगा और न दोनोंके एक साथ जय पराजय होनेका प्रसंग आयगा।

स्वपक्षसिद्धि व परपक्षदूषणसे ही जय व्यवस्थाका निष्कर्ष—देखिये! वादीने सही हेतुके द्वारा अपने पक्षकी सिद्धि करली। सही हेतु कहलाता है जिसका साध्यके साथ अविनाभाव नियम रहता हो ऐसे हेतुके द्वारा जब स्वपक्षकी सिद्धि करली तब प्रतिज्ञा उदाहरण आदिक वचन अनर्थक हैं, ऐसा वचनाधिक्य नामका उपालम्भ वादीकी हारके लिए नहीं बन सकता। कारण कि जब सही हेतुके द्वारा वादीने अपने पक्षकी सिद्धि कर लिया तो प्रतिज्ञा उदाहरण आदिक उसके पक्षका हार करनेमें कारण नहीं बन सकते बल्कि प्रतिज्ञा उदाहरण आदिक वचन उस पक्षको सिद्धिका स्पष्टी-करण ही करेंगे और इसी कारण प्रतिवादीके पक्षकी सिद्धि न हुई। जो समझने वाला शिष्य है उसका अभिप्रायके अनुरोधसे ही तो उदाहरण आदिकका प्रयोग किया जाता है और उस प्रतिज्ञा उदाहरण आदिकके प्रयोगसे उस शिष्यका ज्ञान विशेष ही बना, तो जो कुछ अधिक बोला गया है उस सबका प्रयोजन है। इस कारण यह वादी यदि अपने पक्षका सिद्धि कर लेता है और प्रतिज्ञा उदाहरण आदिक बताकर अपने पक्षको और स्पष्ट सुगम करदे तो इसमें वादीकी हार नहीं है। इसी प्रकार वादी यदि कोई सदोष हेतु बोलदे और प्रतिवादी उस हेतुमें विरुद्धता आदिक दोषोंको प्रकट कर देता है तो इसमें प्रतिवादीका पक्ष प्रबल हुआ, प्रतिवादीके सिद्धान्तका समर्थन हुआ। वादी के पक्षकी सिद्धि नहीं हुई। तो वादीके द्वारा कहे गये हेतुकी विरुद्धता आदिक दोष दिखाकर प्रतिवादीके जब अपने पक्षकी सिद्धि हो जाती है फिर भी प्रतिवादी दोषान्तरको

नहीं प्रकट कर पाता, जैसे कि प्रतिज्ञाका दुहराना या कोई वचन अधिक बोलना यह दोषान्तर माना गया है शंकाकारके मतमें, तो ऐसे दोषान्तरोंको यदि प्रतिवादी प्रकट भी नहीं करता तो भी यह प्रतिवादीकी हारके लिए नहीं है। जीतहारका कारण तो अपने पक्षकी सिद्धि और असिद्धि है। जब प्रतिवादीने अपने पक्षकी सिद्धि करदी, वादी के कहे हुए हेतुमें दोष बता दिया तो अब प्रतिवादी यदि दोषान्तर नहीं कह पा रहा है तो प्रतिवादीकी हार नहीं हैं क्योंकि उस समय प्रतिवादीके पक्षका कोई घात नहीं हुआ।

आप्त व अनाप्तके सम्बन्धमें अन्यव्यतिरेक कथनकी अघोषता—उक्त सब वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि अपने पक्षकी सिद्धि कर ली जानेपर भी परपक्षका निराकरण कर देना अथवा परपक्षका निराकरण कर देनेपर अपने पक्षकी सिद्धि की बात कहना या दुहराना अथवा अन्वयव्यतिरेक विधिसे प्रतिपादन करना यह दोषके लिए नहीं है। यह बात वादी और प्रतिवादीकी जीतके लाभमें रुकावट करने वाली नहीं है। मुख्य तो बात अपने पक्षकी सिद्धि है। परपक्षका निराकरण भी अपने पक्ष की सिद्धिमें सहयोगी है। जैसे सीपको देखकर किसीको चाँदीका ज्ञान हुआ और दूसरा यह कहता है कि यह सीप ही है चाँदी नहीं है। सीपके धर्मोको बताकर सीप का अस्तित्व साबित कर रहा और चाँदीके धर्मको सुनाकर चूंकि वे पाये नहीं जाते अतएव चाँदीका नास्तित्व बता रहा तो अन्वयव्यतिरेक विधिसे अस्तित्व नास्तित्व बताना कोई दोषके लिए नहीं है। इसी नीतिके अनुसार इस प्रसंगमें समंतभद्राचार्यने साधर्म्य और वैधर्म्य इन दोनोंमें तो यद्यपि किसी एकके वर्णनसे भी पदार्थका ज्ञान हो सकता था फिर भी अन्वय व्यतिरेक दोनों पद्धतियोंसे जो विवेचन किया है वह वादीके निग्रहका आधार नहीं बन सकता। निर्दोष सर्वज्ञ अरहंत हैं क्योंकि उनके युक्ति शास्त्रसे अविरोधी वचन हैं, अनेकान्त शासन अबाधित है, ऐसा साधर्म्य वचन कहकर फिर यह जो कहा गया कि जो एकान्तवादी है उनका जो एकान्त शासन है वह प्रत्यक्षसे ही बाधित हो जाता है। यों अन्वय व्यतिरेकसे वर्णन करना यह निग्रह का आधार नहीं है।

प्रतिज्ञाप्रयोगके निग्रहस्थान होनेके सम्बन्धमें चर्चा समाधान—अब यहाँ शंकाकार पूछते हैं कि प्रतिज्ञा आदिकका कहना निग्रहस्थान है। इस मतमें क्या दोष है, यह कहना कैसे अयुक्त है ? जब केवल विद्वान पुरुषोंको एक साधन मात्रके बोलनेसे ही सब कुछ बोध हो जाता है ऐसी स्थितिमें प्रतिज्ञा आदिकका कहना अयुक्त है और तभी वह निग्रह स्थान है, इस मंतव्यमें क्या आपत्ति आती है ? समाधानमें कहते हैं कि प्रतिज्ञा आदिकका वचन निग्रहके लिये नहीं हो सकता। प्रतिज्ञा अनुपयोगी चीज है यह नहीं कहा जा सकता। प्रतिज्ञाका यदि उपयोग व्यर्थ होता तो शास्त्र आदिकमें भी प्रतिज्ञाका कथन न करना चाहिए। क्योंकि वादविवादके समयमें जो

वार्ता होती है और शास्त्रोंमें जो वार्ता लिखी है। बात तो दोनों जगह एक ही है। शास्त्रमें प्रतिज्ञा कही न जाती हो ऐसी बात नहीं है। शास्त्रमें प्रतिज्ञाका वर्णन है और अनियत कथामें भी प्रतिज्ञाका वर्णन है। अनियत कथाका अर्थ है— जल्पवितंडा-रूप जो कथायें होती हैं वे तो कहलाती हैं नियत कथा और उनसे अतिरिक्त जो कुछ भी उपयोगी व्यावहारिक कथायें हैं वे अनियत कथायें हैं वे अनियत कथायें कहलाती हैं। तो जैसे यहाँ अग्नि है धुवाँ होनेसे, यह वृक्ष है शिशया होनेसे आदिक वचन शास्त्रोंमें बराबर देखे जा रहे हैं इसलिये प्रतिज्ञा शास्त्रोंमें नहीं बतायी, यह नहीं कह सकते। और भी देखिये— अनियत कथाकी बात वह हेतु विरुद्ध है। यह हेतु असिद्ध है आदिक रूपसे प्रतिज्ञाके वचन अनियत कथामें भी प्रयुक्त किए जाते हैं। तो यदि प्रतिज्ञा अनुपयोगी होती या प्रतिज्ञाके कहनेसे निग्रह हुआ करता होता तब प्रतिज्ञा वचन शास्त्रोंमें या अनियत कथामें नहीं किया जाता।

शास्त्रों और कथाओंकी भांति वादकालमें भी प्रतिज्ञादिप्रयोगकी अनिग्रघायता—यहां शंकाकार कहते हैं कि शास्त्रोंकी तो यह बात है अथवा अनियत कथाओंकी। जहां कि शिष्योंको समझानेके लिये कोई विद्या या शिक्षा दी जा रही हो वहाँ तो यह कारण है कि जो शास्त्रकार हैं, आचार्यजन हैं उनका भाव दूसरोंके उपकारका है। शिष्योंके उपकारके लक्ष्यसे उनकी शास्त्ररचनामें प्रवृत्ति है। शास्त्र-कार तो इस तरहसे वर्णन करेगा जिस तरहसे कि शिष्य समझ सकें। तो वहाँ तो शिष्यके समझानेकी पद्धतिके आधीन बुद्धि है शास्त्रकारोंकी। तब उन शास्त्रकारोंने, आचार्योंने शास्त्रादिकमें प्रतिज्ञाका प्रयोग करना बिल्कुल युक्तिसंगत माना है, क्योंकि उपयोगी है। प्रतिज्ञा आदिक वचन कहनेसे शिष्य जनोंको सब अर्थोंको व्यवस्थित समझाया जाता है। इसलिए शास्त्रोंमें प्रतिज्ञा आदिकके वचन कहनेका कोई दोष नहीं है। समाधानमें कहते हैं कि फिर यही बात वादविवादमें भी मान ली जानी चाहिये क्योंकि वादविवादमें भी जिसको समझाना है या जो दार्शनिक जन हैं वे भी समझ जायें यह प्रयोजन हो सकता है और वादमें भी प्रवक्ता लोग दूसरेके अनुग्रहमें बुद्धि लगाये हुए हैं। वादविवादके समय भी जो विजिगीषु पुरुष हैं, जिनका हृदय विचलित है असत्य बातसे हटाकर सत्य मार्गमें लगाना, उनको समझाना यह उद्देश्य तो वाद विवादमें भी हो सकता है। अतः प्रतिज्ञा आदिकका वचन अनुप-योगी नहीं हो सकता। शंकाकार कहता है कि भले ठीक है, पर नियत कथामें तो प्रतिज्ञाका प्रयोग करना युक्त नहीं है क्योंकि प्रतिज्ञाका विषयभूत पदार्थ जो कुछ कहा गया है उस अर्थसे ही गम्यमान है। निगमन आदिक वचनकी तरह। जैसे हम शंका-कार यह मानते हैं कि जब अनुमानका प्रयोग किया गया तो उसे प्रयोग विधिसे ही निगमन आदिककी सिद्धि अपने आप हो जाती है। तो जैसे निगमन स्वयं प्रसिद्ध हो गया और उसका प्रयोग नहीं करना पड़ता इसी प्रकार नियत कथामें प्रतिज्ञाका विषय अर्थसे ही गम्यमान हो गया अतएव उसका प्रयोग न करना चाहिए। समाधानमें

कहते हैं कि फिर तो इस ही कारण शास्त्रादिकमें भी प्रतिज्ञाका प्रयोग न करना चाहिए। शास्त्र होते हैं एक लिखितरूप और कथायें होती हैं एक मौखिक शब्दरूप। बात तो दोनों ही जगह एक है। कथाओंमें भी उपदेश है और शास्त्रादिकमें भी उपदेश है। शास्त्रादिकमें जिगीषु पुरुष प्रतिपाद्य न होते हों सो बात नहीं। अनेक पुरुष शास्त्रोंका अध्ययन इस दृष्टिसे करते हैं कि हम उसका खण्डन कर दें, ऐसी विजयकी चाह करने वाले पुरुष भी शास्त्रोंका अध्ययन करते हैं लेकिन प्रतिपाद्य वे भी हैं। उनकी समझमें जिस तरह बैठे उस तरह वर्णन है और वचन तो दोनों जगह एक हैं। यदि वाद विवादके समय यह बात कही जाती है कि केवल हेतु जैसे साधारण शब्दों के कहने मात्रसे ही सामर्थ्यसे प्रतिज्ञाका विषय जान लिया जाता है यों ही शास्त्रमें भी साधारण वचनोंको कहकर प्रतिज्ञा आदिकका विषय सामर्थ्यसे जान लिया जा सकता है। बात दोनों जगह एक समान है। तो जब शास्त्रोंमें प्रतिज्ञा आदिकका विषय सामर्थ्यसे जान लिया जा सकता है। बात दोनों जगह एक समान है। तो जब शास्त्रोंमें प्रतिज्ञा आदिकका प्रयोग करना सार्थक बताया गया है तो वादविवादमें भी प्रतिज्ञा आदिकका प्रयोग करना सार्थक है। प्रतिज्ञा वचनसे कहीं वक्ताकी हार करार नहीं की जा सकती है। जीत हारका आधार तो अपने पक्षकी सिद्धि और असिद्धि करना ही है।

शंकाकार द्वारा जय पराजयके कथनका प्रसंग—यहाँ प्रसंग चल रहा है कि आचार्य समंतभद्रने इस कारिकासे पहिली कारिकामें यह बताया था कि निर्दोष सर्वज्ञ अरहन्त ही हैं क्योंकि उनके वचन युक्ति और शास्त्रके अविरुद्ध हैं। इसका समर्थन करनेके बाद फिर अब इस कारिकामें यह बता रहे हैं कि जो एकान्तवादी हैं उनका शासन प्रत्यक्षसे बाधित है और उनमें आप्तता नहीं है। तो इस प्रसंगमें शंकाकारने यह शंका की कि जब पहिली कारिकामें एक साधर्म्य वचनको सिद्ध कर दिया कि निर्दोष सर्वज्ञ अरहन्त देव ही हैं क्योंकि युक्तिशास्त्रसे अविरुद्ध भाषण है उनका। तो इसी बातसे यह सिद्ध हो जाता है कि अन्य आप्त नहीं है और अनेकान्तवादसे भिन्न वाद एकान्तवाद दूषित है। यों कह दिया तो विधि वचनसे ही व्यतिरेककी सिद्धि हो जाती है, फिर व्यतिरेक वचन क्यों कहा ? इस कारिकामें एकान्तवाद दूषित है, यह कहनेकी आवश्यकता क्यों हुई ? यह तो वचनाधिक्य है। बुद्धिमान पुरुषोंमें तो संक्षिप्त वचनसे बात की जाती है और उससे ही सब सिद्ध हो जाता है फिर अन्य बात कहना अनर्थक है। इस शंकाके समाधानमें ये सब बातें चल रही हैं और निष्कर्ष यह निकाला गया है कि कोई वादी अपने पक्षको सिद्ध करता है वह अन्वय वचनसे और व्यतिरेक वचनसे दोनोंसे ही सिद्धि करता है तो उसको कोई दोष नहीं है। वचनाधिक्य कोई दोषमें शामिल नहीं किन्तु अपने पक्षकी सिद्धि न कर सकना यह दोषमें शामिल है। इस बातको सिद्ध करते हुएमें यह कहा जा रहा है जब कि प्रतिज्ञा आदिकका जो कथन है वह भी निग्रहके लिए नहीं होता। वैधर्म्य वचन है वह भी

निग्रहके लिए नहीं होता। जैसे कोई कहता है कि सच बोलनेमें पुण्य है। इसका समर्थन करके फिर यह कह दे कि झूठ बोलनेमें पुण्य नहीं है। तो कोई यह दोष दें कि जब पहिले जो कहा है उससे ही अपने आप यह सिद्ध हो जाता है कि झूठ बोलनेमें पुण्य नहीं फिर इस बातको दुहराना यह तो अनर्थक है। सो यह दोष नहीं आता। कोई अपने पक्षकी सिद्धि अनेक युक्तियोंसे करे तो इसमें दोषकी क्या बात? अनुमान प्रयोग किया जाता है तो हेतु भी बोला जाता है और प्रतिज्ञा आदिक कहना निग्रहके लिए है, क्योंकि वह वचनाधिक्य है और अनर्थक है तो शास्त्रोंमें फिर प्रतिज्ञाका प्रयोग क्यों बताया गया है?

शङ्काकार द्वारा शास्त्रादिमें प्रतिज्ञावचनकी उपयोगिता व वादमें अनुपयोगिताका कथन और उसका समाधान – उक्त विषयपर शंका समाधान होते होते अब शंकाकार यह कह रहे हैं कि शास्त्रादिकमें अजगीषुता अर्थात् जीत प्राप्ति करनेकी इच्छा नहीं है। केवल समझानेकी इच्छा है ऐसे लोग भी तो प्रतिपाद्य हैं, मायने समझने योग्य हैं। मंद बुद्धि वाले जिज्ञासु पुरुषोंके लिए तो शास्त्र बताये गए हैं। तो शास्त्रादिक उनको भी समझाते हैं इसलिए उनमें प्रतिज्ञाका प्रयोग किया जाता है। यदि शास्त्रोंमें प्रतिज्ञा आदिकका प्रयोग न किया जाय तो जो कोई मंद बुद्धि वाले पुरुष हैं वे तो प्रकरणकी बात जान ही न सकेंगे। इस कारण चाहे गम्यमान भी हो प्रतिज्ञा लेकिन उन मंद बुद्धियोंके समझनेके लिए शास्त्रादिकमें प्रतिज्ञाके विषयका प्रयोग किया गया है। क्योंकि शास्त्र बनाये जाते हैं मंदबुद्धियोंको समझानेके लिए तो मंदबुद्धियोंकी जानकारी करानेके वास्ते शास्त्रादिकमें प्रतिज्ञा आदिकका प्रयोग किया जाना युक्त है। तो उत्तरमें कहते हैं कि इसी तरह वादविवादके समयमें भी यद्यपि जिज्ञासु पुरुष है वह अपनी जीत हारकी इच्छा करने वाला है लेकिन क्या जिज्ञासु पुरुष मंद बुद्धि वाले नहीं होते हैं! और जब मंद बुद्धि वाले सम्भव हैं तो वादविवादके समय न भी उन मंद बुद्धियोंको समझानेके लिए प्रतिज्ञा आदिकका प्रयोग करना ही चाहिए। जैसे शास्त्रादिकमें मंदबुद्धियोंके समझानेके लिए प्रतिज्ञा आदिकका प्रयोग किया गया है इसी प्रकार वादकालमें भी मंद बुद्धि जिगीषुओंको समझानेके लिए प्रतिज्ञा आदिकका प्रयोग किया जाता है। क्योंकि शास्त्रका प्रकरण हो या वादका प्रकरण हो दोनोंमें मंदबुद्धिजनेकी अविशेषता तो रहती ही है। तो मंद बुद्धि दोनों जगह सम्भव है तो दोनों जगह प्रतिज्ञा आदिकका अभिधान करना लेना चाहिए और यदि वाद कालमें प्रतिज्ञा आदिकका प्रयोग करना अनुचित कहते हो तो शास्त्रादिकमें भी प्रतिज्ञा आदिकका प्रयोग न करना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष मानो कि वचनादिक अथवा प्रतिज्ञा आदिकके प्रयोग, अनेक युक्तियोंसे पक्षको सिद्ध करनेकी बात ये सब दोषके लिए नहीं हैं। दोष करने वाला तो साधनाभासका प्रयोग है। कोई खोटी युक्ति वा खोटे हेतुका प्रयोग करे तो वह हारके लिए है।

शंकाकार द्वारा प्रतिज्ञाकी व्यर्थताका कथन और उसका समाधान — शंकाकार कहते हैं कि देखिये ! प्रतिज्ञाका प्रयोग करनेपर भी हेतु आदिकका वचन किए बिना साध्यकी प्रसिद्धि नहीं होती इसलिए प्रतिज्ञा व्यर्थ है। साधनका प्रयोग करना यही एक अनिवार्य और आवश्यक बात है क्योंकि हेतुके प्रयोगके बिना साध्य की सिद्धि होती ही नहीं। भले ही प्रतिज्ञाका कोई प्रयोग करे लेकिन मात्र प्रतिज्ञ के प्रयोगसे जब साध्यकी प्रसिद्धि नहीं होती तो प्रतिज्ञा व्यर्थ है और हेतु आदिकके वचनसे साध्यकी सिद्धि होती ही है अतएव निगमन आदिक सब अकिञ्चित्कर हैं। समर्थनमें सब अंग आ गए और इस त्रिलक्षणहेतुसे प्रतिज्ञाकी सिद्धि हो ही गई।

त्रिलक्षणत्वके समर्थनमें प्रयोगकी सिद्धि और साधनमात्रसे साध्य सिद्धि माननेपर समर्थनकी भी अकिञ्चित्करता और समर्थनप्रयोगसे क्षणिकवादियोंके पराजयका प्रसङ्ग त्रिलक्षणपना कहते किसे हैं ? हेतुका पक्षमें रहना। तो इस त्रिलक्षणसे प्रतिज्ञा भी समर्थित हो गई और निगमन भी समर्थित हो गया। सो क्या शंकाकारने प्रतिज्ञा स्वीकार नहीं किया ? किया ही है। अपने हेतुके समर्थनके बिना हेतुका भी प्रयोग कर डाले तो भी अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं होती। सो उनके बताये गए अनुमान प्रयोगमें यह बात सर्वत्र जाहिर है हेतु बोला गया और हेतुका समर्थन किया गया। समर्थनकी विधिमें प्रतिज्ञा निगमन सब ध्वनित होते हैं। केवल साधनमात्रसे अर्थका परिज्ञान माननेपर फिर तो समर्थनको भी प्रत्यक्ष मानना चाहिए। यदि शंकाकार ऐसा अभिप्राय रखे कि हेतु मात्र ही आवश्यक है और हेतुसे ही पदार्थकी प्रतिपत्ति हो जाती है तब फिर समर्थन क्यों करते ? निगमन उनके समर्थनमें ध्वनित होता है ऐसे समर्थनकी वहाँ क्या आवश्यकता रही ? वह भी अकिञ्चितकर बन जायगा। जब हेतु मात्रसे ही साध्यकी सिद्धि माना है, जहाँ समर्थनकी भी आवश्यकता नहीं समझते हैं तो समर्थन तो हुआ अकिञ्चितकर, तो अकिंचितकर होनेसे समर्थन भी अब अतिशयवाला न रहा। उसका भी कुछ महत्त्व न रहा, फिर समर्थन भी निग्रहके लिए बन गया। तो ऐसे समर्थनके प्रयोग करने वाले क्षणिकवादियोंका अपराध कैसे न हुआ ? चाहे वे हेतु आदिकको कहें या हेतुके समर्थन आदि को कहें, उसमें उनका पराजय यों है कि वचनाधिक्य दोषको किसी भी प्रसंगमें लगा दिया जा सकता है। कितना वचन बोलनेसे अर्थका काम चलेगा, इसकी कोई निश्चित सीमा नहीं है। एकसे एक बुद्धिमान पुरुष हैं और उनकी दृष्टिसे कुछ भी अल्प वचन बताया जा सकता है। अतः वचनाधिक्य दोषके लिए नहीं है। जो अपने पक्षकी सिद्धिके लिए न समर्थ हो सके वह दोषके लिए माना जायगा।

प्रतिज्ञाभिधान व हेत्वभिधानकी सार्थकताके सम्बन्धमें कुछ शंका समाधान—अब यहाँ शंकाकार आक्षेप समाधानमें यह बात कह रहे हैं कि हेतुके न कहनेपर फिर समर्थन किसका किया जा सकता है तो हेतुके न कहनेकी दूषणकी

बात तो फबती ही नहीं। हेतुका कहना तो अति आवश्यक है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि तब तो फिर प्रतिज्ञाका भी वर्णन न करनेपर हेतु आदिक कहाँ लगाया जायगा। इस कारण प्रतिज्ञाका कहना भी अति आवश्यक हो जाता है। शंकाकार कहता है कि हेतु आदिक गम्यमान प्रतिज्ञा विषयमें लग जायेंगे अर्थात् हेतु कहकर जो प्रतिज्ञा अपने आप जानी गई है। उस प्रतिज्ञा विषयमें हेतु आदिक प्रवृत्त हो जायेंगे। इसके समाधानमें कहते हैं कि तब तो फिर गम्यमान हेतु आदिकका भी समर्थन हो जाय। याने हेतुके न कहनेपर प्रकरणसे या प्रतिज्ञामात्रसे उसकी पद्धतिसे जो वर्णन हुआ उससे हेतु आदिक भी गम्यमान हो जायेंगे। और इस तरह गम्यमान हेत्वादिक का भी समर्थन बन जाय। शंकाकार कहते हैं कि हेतु आदिक चाहे गम्यमान भी हों लेकिन मंद बुद्धि पुरुषोंके समझानेके लिये तो हेतु आदिकका वचन कहना ही पड़ेगा। तो समाधानमें कहते हैं कि इस ही प्रकार प्रतिज्ञाके कथनमें क्यों असंतोष किया जा रहा है? प्रतिज्ञा भी चाहे गम्यमान हो जाय लेकिन मंदबुद्धि पुरुषोंको समझानेके लिए प्रतिज्ञाका वचन कहना आवश्यक होना ही चाहिए।

समर्थनको निग्रहस्थान न होने देनेके भावसे समर्थन स्वरूपका शंकाकार द्वारा प्रतिपादन—अब इस प्रसंगमें क्षणिकवादी अपना मतव्य रख रहे है जिस मतव्यमें यह सिद्ध किया जायगा कि समर्थन निग्रहके लिए नहीं बनता। अनुमान प्रयोग करके हेतुका जो कुछ व्याप्ति जैसा रूप रखकर समर्थन किया जाता है वह समर्थन निग्रहके लिए, पराजयके लिए न होगा। अन्य कोई लोग किसी बातको कहकर जिससे सिद्ध होती हों अनेक बातें, उन अनेकोंमेंसे कुछ भी कहें तो उसका निग्रह तो माना जायगा लेकिन हम हेतु कहकर हेतुका समर्थन करें, वह निग्रह न माना जायगा, ऐसा अभिप्राय रखते हुए क्षणिकवादी कह रहे हैं कि देखिये! समर्थन नाम किसका है? हेतुका साध्यके साथ व्याप्ति दिखाकर फिर पक्षमें जैसे कि प्रकृत अनुमान बनाया है शब्दका कि शब्द क्षणिक है कृतक होनेसे। तो पक्ष हुआ शब्द, तो उस शब्दादिक पक्षमे अस्तित्वका साधन करना इसका नाम है समर्थन। जैसे कि जो सत् हैं अथवा कृतक हैं वे सब अनित्य होते हैं। उदाहरण—जैसे घट आदिक। और, शब्द सत् है अथवा कृतक है, इतना अनुमान प्रयोग समर्थनके लिए कहना आवश्यक हो जाता है। तो यहाँ बात क्या की गई कि हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति पहिले दिखाकर पीछे पक्षमें साध्यका अस्तित्व सिद्ध किया गया है। तो समर्थनकी पद्धति एक तो यह है कि पहले हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति दिखाई जाय और फिर पीछे उस अस्तित्वकी सिद्धि की जाय। जैसे यह कहा जाय कि शब्द सत् अथवा कृतक है? जो ऐसा होता है, जो सत् व कृतक होते हैं वे सब विनश्वर होते हैं जैसे घट आदिक। तो समर्थनकी दूसरी पद्धति यह है कि पक्षमें अस्तित्व बताकर सिद्ध कर पश्चात् हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति बताना। समर्थनमें दो बातें दिखाई गई हैं—साधनकी साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध करना और पक्षमें हेतु और साध्यका अस्तित्व बताना, ये दो बातें कहीं इस क्रम

से हों तब भी समर्थन हुआ, कभी विपरीत क्रमसे हों तब भी समर्थन हुआ। व्याप्ति प्रदर्शन और पक्षमें अस्तित्व साधन इन दो बातोंके प्रयोगके क्रमका कोई नियम नहीं है, क्योंकि दोनों ही पद्धतियोंमें अर्थात् व्याप्ति दिखाकर पक्षमें अस्तित्वका साधन बना कर हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति दिखाना दोनों ही पद्धतियोंमें इष्ट अर्थकी सिद्धि है। जो साध्य सिद्ध करना चाहते हैं वह साध्य दोनों ही कृतियोंमें सिद्ध होता है, उनका विरोध नही है।

व्याप्तिसाधनके तात्पर्यका हेतुसमर्थनको निग्रहस्थान न होने देनेके लक्ष्यसे शंकाकार द्वारा प्रतिपादन अब व्याप्ति साधनकी बात देखिये अर्थात् हेतु की साध्यके साथ अचल रूपसे व्याप्ति है, यह सिद्ध किस तरीकेसे होता है, व तरीका है यह कि विपक्षमें बाधक प्रमाण दिखना। जैसे कि समस्त वस्तुओंके क्षणिकत्वको सिद्ध करनेके लिए जो सत्त्व कृतकत्व हेतु दिया है तो सिद्ध किया जा रहा है यहाँ क्षणिकपना। तो विपक्ष होगा वह, जो क्षणिक न हो अर्थात् नित्य। तो नित्य पदार्थमें बाधक प्रमाण दिखाया जाय कि जो नित्य होगा वह सत् नहीं हो सकता है। अथवा उसमें कुछ काम नही बन सकता है। इस तरह विपक्षमें बाधक प्रमाण दिखाना यह है व्याप्तिको प्रमाणीक ढंगसे सिद्ध करनेकी बात। वह किस प्रकार सो देखिये यदि समस्त सत् व कृतक प्रतिक्षण विनाशीक न हों तो यही विपक्षकी बात आयी ना? सिद्ध किया जा रहा है कि समस्त पदार्थ प्रतिक्षण विनश्वर हैं। तब उसका विपक्ष वह होगा कि जो नित्य हो। सो देखिये कि सभी सत् यदि प्रतिक्षण विनाशीक न हों अर्थात् नित्य हों तो नित्यमें न तो क्रमसे अर्थक्रिया बन सकती है और न एक साथ अर्थक्रिया बन सकती है। अर्थक्रियाकी जहाँ सामर्थ्य हो वहाँ तो सत्त्व ठहर सकता अर्थविकल्पमें नहीं। जिस पदार्थसे कोई काम बनता हो। कोई उपकार होता हो, कुछ परिणतियाँ बनती हों उसका व्यक्त रूप हो तब तो उसका सत्त्व माना जायगा। लेकिन जो सर्वथा नित्य हैं उनमें अर्थक्रिया किसी भी प्रकार सम्भव नहीं होती। नित्य पदार्थमें अर्थक्रियाकी यदि कल्पना की जाय तो वहाँ दो विकल्प होते हैं—क्या नित्य पदार्थमें परिणमन एक साथ होगा? यदि कहे कोई कि नित्य पदार्थमें परिणमन क्रमसे होगा या नित्य पदार्थमें परिणमन एक साथ होगा? यदि कहे कोई कि नित्य पदार्थमें परिणमनन क्रमसे हो जायगा तो जब किसीमें क्रमसे परिणमन हो रहा तो वह नित्य कैसे कहलायेगा? सर्वथा नित्य कहना और उसमें क्रमसे परिणमन बताना इन दोनों बातोंका तो पूर्ण विरोध है। जो परिणमता है वह नित्य नहीं। जो नित्य है उसमें परिणमन नहीं और क्रमसे परिणमन होनेका अर्थ यह है कि अभी किसी रूप है, अब किसी अन्यरूप पदार्थ होता जायगा तो वह नित्य तो न रहा। यदि कोई कहे कि नित्य पदार्थमें परिणमन एक साथ हो जायगा तो जितने परिणमनभूत भविष्यके हैं वे सभी एक साथ आ जाने चाहिएँ। और, एक साथ परिणमन जब आ गए तो कोई एक व्यक्त रूप ही नहीं कहा जा सकता। और,

फिर अगले समयका परिणमन कुछ रहा ही नहीं किया जानेको । तो नित्य पदार्थमें न क्रमसे अर्थक्रिया बनती न एक साथ अर्थक्रिया बनती तब विपक्षमें याने सभी पदार्थोंमें सत्त्व लक्षण खतम हो जायगा । याने सत् ही न रहेगा । यदि प्रतिक्षण विनाशीक नहीं मानते तो कुछ सत् ही नहीं रह सकता । तो यों विपक्षमें बाधक प्रमाण दिखानेका नाम है व्याप्ति साधन । जो कि समर्थनमें बताया जाता है । बाधक प्रमाण आदिक विपक्षमें आते हैं । तो उससे यह सिद्ध होता कि हेतु प्रबल है किन्तु विपक्षमें बाधक प्रमाण नहीं है तो हेतु प्रबल नहीं है और फिर वह साधनाभास है । जैसे कि अभी बताया गया कि प्रतिक्षण विनाशीक भी पदार्थ नहीं हैं तो उसमें अर्थक्रिया भी नहीं है । तब सजातीय अथवा विजातीय क्रियाके करनेका सामर्थ्य नहीं है तो सर्व सामर्थ्यसे रहित जो कुछ है वह निःस्वभाव कहलायेगा । और निःस्वभाव कोई पदार्थ ही नहीं है इस प्रकार साधनका साध्यके विपरीतमें अर्थात् विपक्षमें बाधक प्रमाण न दिखाया जानेपर विपक्षके साथ साधनका विरोध न रहनेसे हेतुका विपक्ष में वृत्ति न भी देखी जाय तो भी उसमें सन्देह तो होता ही है । तब शंकाकी निवृत्ति न होगी । जैसे कि प्रकृत अनुमान बनाया गया कि शब्द क्षणिक है सत् होनेसे । अब यहाँ सत्त्व हेतुका विपक्षमें अर्थात् नित्यमें बाधक प्रमाण न दिखाया जाय तो विपक्षके साथ याने नित्यके साथ साधनभूत सत्त्वका विरोध तो न रहा । जब विरोध न रहा तो चाहे विपक्षमें, नित्यमें साधन दिख नहीं रहा, लेकिन विरोध न रहनेसे यह बात कल्पनामें आयगी कि कोई पदार्थ सत् भी रहो, कृतक भी रहो और नित्य भी रहो। तो यों शंका न हट सकी । तब नित्यसे व्यतिरेकका याने साधनके न रहनेका, सत्त्वके न रहनेका सन्देह रहनेसे अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जायगा यह हेतु ।

व्यतिरेकसंदेहसे अनैकान्तिक हेत्वाभास होनेके कारणका विवरण — व्यतिरेकका संदेह होनेसे अनैकांकित हेत्वाभास किस तरह होता है । उक्त अनुमानमें उसको बताते हैं कि विपक्षमें अर्थात् नित्यमें सत्त्व और कृतकत्व हेतुके न दिखने मात्र से साधनका विपक्षमे हटना नहीं माना जा सकता है । अर्थात् अदर्शनमात्रसे विपक्ष व्यावृत्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि जो असर्वज्ञ हैं, अल्पज्ञ हैं उन पुरुषोंको जो विप्रकर्षी अर्थात् देश विप्रकर्षी कालविप्रकर्षी अथवा स्वभाव विप्रकर्षी हैं ऐसे परोक्ष पदार्थोंका जो अदर्शन होता है जो उन पदार्थोंका दिखना नही हो रहा है तो उतने मात्रसे उन विप्रकर्षी पदार्थोंका अभाव नही माना जा सकता है जैसे कि हम आप किसी भींटका एक ओर तक रहे हैं भींटका एक ओरका भाग दिख रहा है दूसरी ओर का भाग नहीं दिख रहा इतने मात्रसे यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह हिस्सा है ही नहीं । हमको नहीं दिख रहा लेकिन उस तरफ जो मनुष्य बैठे अथवा खड़े होंगे उनको तो दिख ही रहा । तो जैसे मात्र इस भागका हिस्सा दिखनेसे और दूसरे भाग का हिस्सा न दिखनेसे कहीं उसका अभाव न मान लिया जायगा ।

विपक्षमें बाधक प्रमाणकी शक्तिके परिचयका क्षणिकवादी द्वारा

प्रतिपादन—यहाँ ऐसी आशंका न रखिये कि बाधक प्रमाण होनेसे शंकाकी निवृत्ति हो कैसे जाती है ? देखिये ! बाधक ज्ञान एक प्रमाण है अर्थात् विपक्षमें यदि बाधक प्रमाण लगता है तो प्रकृत अनुमानकी बात एकदम प्रमाणभूत होती है। उसका उदाहरणमें विवरण सुनो देखिये ! जिसका क्रम अथवा एक साथ अर्थक्रियाका योग नहीं होता, जिस पदार्थमें न क्रमसे परिणमन चल सकता है न एक साथ परिणमन चल सकता है, उसमें कार्यकी सामर्थ्य नहीं है, यह बात निश्चित है और नित्य पदार्थमें क्रमसे या एक साथ अर्थक्रियाका योग हो ही नहीं सकता। यह बात बिल्कुल निर्णीत है। याने जो पदार्थ सर्वथा नित्य है, अपरिणामी है, कूटस्थ है, ध्रुव है उसमें तो परिणमन ही सम्भव नहीं, फिर क्रमसे या एक साथ परिणमनकी बात भी क्या कही जा सकती है और नित्य होनेपर भी क्रमसे या एक साथ परिणमनकी बात लादोगे ही तो क्रमसे परिणमन माननेपर नित्यता नहीं रहती है। एक साथ परिणमन माननेपर त्रिकाल परिणमन एक ही क्षणमें हो बैठे, पश्चात् क्या हुआ ? यों सर्वशून्यका प्रसंग होगा। तो नित्य पदार्थमें जो कि क्षणिक नहीं है ऐसी कल्पित की गई वस्तुमें न तो क्रमसे अर्थक्रियाका योग होता न एक साथ अर्थक्रिया हो सकनेका योग होता है। तब इस तरह जब ध्रुवमें असामर्थ्य प्रवर्तमान हो गया अर्थात् अर्थक्रिया करनेका सामर्थ्य न रहा, यह सिद्ध हो गया तो असत्वका लक्षण है। जिसमें क्रमसे या एक साथ अर्थ क्रिया नहीं हो सकती उस ही को तो असत् कहते हैं। तो देखिये ! अब यह असत्वका लक्षण नित्य पदार्थ खिच गया। अर्थात् यदि क्षणिक कुछ नहीं मानते तो वह असत् ही है इस वर्णनसे सिद्ध क्या हुआ कि जो सत् है अथवा कृतक हैं यह अनित्य ही है, यह सिद्ध हो जाता है। यों विपक्षमें बाधक प्रमाण मात्रके देनेसे ही साधन मात्रका अन्वय अर्थात् जितने भी साधन धर्म हैं उन सबका सम्बन्ध साध्य धर्मसे सिद्ध हो ही जाता है और इसी कारण फिर यह सत्त्व हेतु कृतकत्व हेतु, स्वभाव हेतु नामका हेतु सिद्ध हो जाता है। यह सब कहनेका प्रयोजन हम शंकाकारोंका यह है कि समर्थन करनेसे निग्रह स्थान नहीं बनता। अनुमान बोलते हैं, उसमें हेतु दिखाते हैं तो हेतुका इस तरह समर्थन करते हैं तो वह समर्थन इस ही ढंगसे तो हुआ कि विपक्षमें बाधक प्रमाण बताया गया। तो विपक्षके बाधक प्रमाण बता देने मात्रसे जब साधकका साध्य के साथ अविनाभाव सिद्ध हो गया तो अनुमान बन गया। अब इसमें प्रतिज्ञा, निगमन के दिखानेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ समर्थन जो यह बताया गया यह तो इष्ट मंतव्य का साधक है।

बाधकप्रमाणमें भी अदर्शनकी अप्रमाणता—अब और भी बात सुनो बाधक प्रमाणमें भी अदर्शन अप्रमाण है, जिससे कि क्रम अथवा एक साथ जो अर्थक्रियाका अयोग है उसकी असामर्थ्यसे ही याने सत्त्व और कृतकत्व आदिकमें जब अर्थक्रियाके अयोगका असामर्थ्य है तो व्याप्ति सिद्ध न होनेसे पहिले कहे गए सत्त्वादिक हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती। यहाँ भी साधनके मान लेनेपर अनवस्था दोष होगा, ऐसी

शंका न करिये। क्योंकि दृष्टके अभावके साधनका न दिखना इतने मात्रके प्रमाणता का प्रतिषेध नहीं है। इष्ट मंतव्यमें अभाव साधक कुछ नहीं दीखा याने दृश्यानुपलब्धि रूप साधनका अदर्शन हुआ तो इसमें प्रमाणपनेका निषेध नहीं बनता। यह किस प्रकार सो सुनो - जैसे नित्य पदार्थमें क्रमसे या एक साथ अर्थक्रियाका सम्बन्ध न दीखा तो वह विपरीत बातको सिद्ध कर देता है अर्थात् क्षणिकपनेको सिद्ध कर देता है। तब क्रमयौगपद्यायोग इस हेतुका साध्यके विपरीतमें अर्थात् सामर्थ्य रूप सत्त्व लक्षण में विरुद्धका उपस्थान करनेसे बाधक प्रमाण बन ही गया और इस तरह याने अदर्शन का विपक्षमें बाधक प्रमाणत्व है तब यदि वह हेतु साध्यके अभावमें न होता हुआ सिद्ध करे तो प्रमाणवान अपने विरुद्ध क्रमयौगपद्ययोगनामक हेतुसे बाधित हो जाता है। वहां हेतु यह दिया जा सकता है कि नित्य पदार्थ अर्थक्रियाका करने वाला नहीं है क्योंकि उसमें क्रमसे अथवा एक साथ किसी भी प्रकार अर्थक्रिया सम्भव नहीं है। यह हेतु क्षणिक स्वलक्षण वस्तुस्वरूपके सिद्ध करनेमें बराबर समर्थ हो गया है अन्यथा क्षणिकमें इसका बाधक प्रमाण असिद्ध हो जानेपर संशय हो जाना दुर्निवार हो जायगा। देखिये—सबकी अनुपलब्धि होना सत्त्वका बाधक नहीं है किन्तु दृश्यकी अनुपलब्धि ही सत्त्वका बाधक है याने जो दृश्य है, क्षणिक है सो वह अगर न दीखे तो समझना चाहिए कि सत् नहीं है। मगर अनुपलब्धि साधन मात्र सत्त्वका बाधक नहीं अब दृश्यकी अनुपलब्धि ही सत्त्वका बाधक सिद्ध हो गया तब क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रियाका सम्बन्ध हो जाना याने अर्थक्रिया कर सकनेका सामर्थ्य हो जाना सत् पदार्थमें बन जाना है। दृश्य कहते हैं क्षणिकको क्योंकि जो कुछ दिख रहा है वह सब क्षणिक ही तो है। क्षणिक ही दृश्य होता अर्थात् प्रत्यक्षगोचर होता। निर्विकल्प प्रत्यक्षमें क्षणिक पदार्थ ही विषयभूत हुआ करता है। तो दृश्य अर्थात् क्षणिकपना यदि नहीं है तो वह सत् नहीं है। इस प्रकार जो यह अनुमान बना कि जो भी सत् हैं वे सब क्षणिक हैं, यह विपक्षमें बाधक प्रमाण दे देनेसे प्रमाणभूत हो जाता है और इतने मात्रसे वह समर्थन कहलाता है। तो समर्थन करनेसे पराजय नहीं होती। समर्थन तो एक अनुमानका अंग ही है। इस प्रकार व्यापक धर्मानुपलब्धि अक्षणिक पदार्थमें अर्थक्रियाके सामर्थ्यको बाधित कर देता है याने जो नित्य है उसमें न क्रमसे और न एक साथ किसी भी प्रकार अर्थक्रियाका सामर्थ्य न रहा तो अर्थक्रियाका व्याप्ति सत्त्वमें सिद्ध हो गई और इस प्रकार स्वभाव हेतुका समर्थन बन गया। इस अनुमानमें जो सत्त्व हेतु दिया है वह स्वभाव हेतु है और उसका समर्थन होता है। इस समर्थनके वचनसे हार नहीं है किन्तु वह अपनी जीतको ही प्रबल करता है।

शंकाकार द्वारा समर्थनके स्वरूपके कहे जानेके प्रसंगका प्रकरणसे सम्बन्ध होनेका विवरण—इस प्रसंगमें क्षणिकवादियोंने सर्वप्रथम यह कहा था कि जब इस कारिकासे पहिली कारिका द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि अरहंत ही आप्त है निर्दोष होनेसे और युक्तिशास्त्रसे अविरुद्ध वचन होनेसे, फिर इस कारिकामें यह कहा

जा रहा कि जो अर्हन्तमतसे बाह्य हैं एकान्तवादी हैं उनका शासन प्रत्यक्षसे ही बाधित होता है, तो पहिले कथनसे जब यह बात अपने आप सिद्ध हो जाती है कि अर्हन्तका शासन अबाधित है अर्थात् अन्य एकान्तवाद बाधित है तो जो अपने आप अर्थसे सिद्ध हो जाता है उन बातको पुनः कहना यह तो निग्रहस्थान है अर्थात् पराजय तिरस्कार कराने वाला प्रयास है। इस शंकाके उत्तरमें यह कहकर भी समाधान किया कि अर्थसे सिद्ध होनेवाली बातको फिरसे कहना यदि निग्रहस्थान है तब क्षणिकवादी अनुमान प्रयोगमें हेतुको कहकर फिर हेतुका जो समर्थन करते हैं, जिस समर्थनसे प्रतिज्ञा निगमन आदिक सब वचन निग्रहस्थान कहलाने लगते हैं तो उनका समर्थन भी फिर अनुपयोगी और निग्रहस्थानके योग्य हो जायगा। इस आपत्तिके दूर करनेके लिए क्षणिकवादी यहाँ यह कह रहे हैं कि समर्थनका पहले स्वरूप समझिये। समर्थनका जो स्वरूप है वह विपक्ष व्यावृत्तिको सिद्ध करता है। हेतुका विपक्षमें न रहना यह एक खास प्रमाण है और हेतुके जो तीन लक्षण बताये गए उनमेंसे यह अन्तिम रूप है। तो समर्थन कोई अलग चीज न हुई किन्तु हेतुका ही अंग हुआ। हेतुके अंग तीन हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति। तो हेतुका समर्थन जिस विधिमें किया जाता है परख करके आप यह पायेंगे कि वह पद्धति विपक्ष व्यावृत्तिको जाहिर करने वाली है। और इस पद्धतिका स्वभाव हेतुमें वर्णन किया गया है।

कार्य हेतुके समर्थनको विपक्षव्यावृत्तिरूप बतानेका शंकाकारका प्रयास

क्षणिकवादमें हेतु तीन प्रकारके होते हैं स्वभाव हेतु कार्य हेतु और व्यापकानुपलब्धि हेतु। स्वभाव हेतुके सम्बन्धमें शंकाकारने काफी प्रकाश डाला है अब कार्यहेतुके सम्बन्धमें शंकाकार यह कह रहे हैं कि कार्य हेतुका भी समर्थन विपक्ष व्यावृत्तिरूप पड़ता है। वह किस प्रकार सो सुनो जिसका कार्यभूत लिङ्ग कारणकी सिद्धिके लिए बताया जाता है उस कार्यभूत लिङ्ग कारणके साथ कार्य कारणभावका दिखाना अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकारोंसे होता है। जैसे कि अग्नि साध्यमें धूमके हेतु वाले अनुमानमें यह व्याप्ति बनी कि यह धूम अग्निके होनेपर होता है। यद्यपि उस समय धूमके हेतु किसी प्रकार अन्य अन्य भी रहे हैं जैसे गीला ईंधन होना, हवाका चलना आदि ये भी यद्यपि धूमकी उत्पत्तिमें कारण हो रहे हैं लेकिन अग्निसे भिन्न अन्य समर्थ धूमके कारणोंके होनेपर भी व्याप्ति बनती है इस प्रकार कि यह धूम अग्निके होनेपर होता है और अग्निके न होनेपर नहीं होता है। इस ही प्रकारकी समझसे अग्निका कार्यपना असंदेह रूपसे समर्थित होता है अर्थात् यह धूम अग्निका कार्य है क्योंकि अग्निके होनेपर धूम होता है, अग्निके न होनेपर नहीं होता है। यदि अन्वयका अभाव माना जाय और केवल व्यतिरेकसे ही समर्थन किया जाय कि अग्निके अभावमें धुवाँ नहीं होता है, इस प्रकार व्यतिरेक रूपसे उनका सम्बन्ध दिखाया जाय और अन्वय सम्बन्धको छोड़ दिया जाय तो देखिये, सहकारी कारण वहां अन्य भी हैं जैसे हवा ईंधन आदिक। तो इन सहकारी कारणोंका कार्यकी उत्पत्तिके समय सद्भाव है ना, तो अब धुवाँ नहीं है तो

कार्यकी उत्पत्तिमें कारणभूत हवा ईंधन आदिक भी नहीं है जब वहाँ अग्निके कारण-पनेमें संदेह हो जाता है। अग्नि धूमको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रखती है, इस अर्थ क्रियाके सम्बन्धमें सन्देह हो जाता है, क्योंकि धूमरूप कार्यकी उत्पत्तिमें हवा आदिक कारण भी अब समर्थ सिद्ध हो गए ऐसी स्थितिमें कि हवा आदिकके अभावमें धूमरूप कार्य नहीं हुआ, इस शंकाकी निवृत्ति अब न होगी।

स्वसंभवताकी दृष्टि बिना साधारण अन्वय व्यतिरेकके कथनमें भी प्रमाणताका अभाव – यहाँ कोई ऐसी जिज्ञासा रख सकता है कि अग्निके अभाव होनेपर धुवाँ का न रहना, यह देखा जा रहा है तब अग्निमें ही धूम कार्यको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है। अन्य पदार्थमें धूम कार्यको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं है यह बात बन जायगी। सो कहते हैं कि अग्निकी निवृत्ति होनेपर धुवाँकी निवृत्ति होनेपर धुवाँकी निवृत्ति बताना ऐसी हालतमें कि जब हवा ईंधन आदिककी निवृत्ति होनेपर धूमकी निवृत्ति देखी जाती है तब कुछ भी कहना वह अपना मनचाहा कहना बन गया। वह भी कह दिया जाय कि अग्निके हटनेपर धूम नहीं रहता है इसलिए धूम अग्निका कार्य है यह भी मनचाहा बोल देनेमें शामिल होगा। युक्तिपरस्पर बात अब न रही। और ऐसी इच्छानुकूल बकवाद होगा जैसे कि जिस देशमें माताका विवाह करना उचित माना जाता हो उस देशमें उत्पन्न होते हों बहुत तादातमें पिण्ड खजूर तो उसे निरखकर कोई यों व्याप्ति बना दे कि देखो अन्य देशमें मातृ विवाह नहीं होता तो पिण्ड खजूर भी नहीं है। सो उन पिण्ड खजूरोंका होना एक मातृविवाह के कारणसे सिद्ध हुआ। इस तरह बोलना जैसे व्यर्थका बकवाद है, इच्छानुसार कहना है ऐसे ही जब धूम कार्यकी निवृत्ति अग्निकी, ईंधनकी, हवाकी निवृत्ति होनेपर देखी गई तब केवल अग्निका नाम लेकर कहना कि देखो—अग्निके अभावमें धूम न हुआ अतएव धूम अग्निका कार्य है यह तो मनचाहा बोलना हुआ।

कार्यहेतुके समर्थनको विपक्ष व्यावृत्तिरूप कहनेका शंकाकार द्वारा उपसंहार—जो ऊपर बात दिखाई गई कि धूमके कारणभूत तो समर्थ भी पदार्थ हुए फिर भी धूम अग्निके होनेपर होता है और न होनेपर नहीं होना इस तरह अन्वयव्यतिरेक रूपसे समर्थित किया गया वह धूम अग्निका कार्य सिद्ध होता है अर्थात् उत्पत्तिसे सिद्ध हुआ वह धूम अग्निके सद्भावको सिद्ध कर देता है यों यह बात प्रकट होती है कि कार्य कारणका अव्यभिचारी है। कार्य दिखे तो उससे कारण का अवश्य अस्तित्व सिद्ध होता है। और, जब यहाँ धूम अग्निके प्रसंगमें धूम कार्य का अग्नि कारणके साथ अव्यभिचार सिद्ध हुआ तो सभी जगह यह समझना चाहिए कि जितने कार्य होते हैं वे कार्य अपने कारणका अस्तित्व सिद्ध करते ही हैं। और सिद्ध होता है अन्वय व्यतिरेकके द्वारा। यों कार्य हेतुका समर्थन किया जाता है इससे भी यह परखलें कि इस कार्य हेतुके समर्थनमें यही तो पद्धति आयी कि यह कार्यरूप

हेतु विपक्षमें नहीं गया। तो विपक्ष व्यावृत्ति जो कि हेतुका एक अंश है उसके द्वारा समर्थन हुआ ? समर्थन कोई अलग चीज नहीं है। समर्थन करना हेतुका ही कहना कहलाता है। इस प्रकार स्वभाव हेतुका समर्थन और कार्य हेतुका समर्थन हेतुका ही लक्षण है। समर्थन कोई अलग चीज नहीं है

अनुपलब्धिरूप हेतुका समर्थन भी विपक्षव्यावृत्तिरूप होनेका शंकाकार द्वारा प्रतिपादन　अब अनुपलब्धिरूप हेतुके समर्थनकी बात देखो—कौन सी अनुपलब्धि साध्यको सिद्ध करनेमें समर्थ है ? जानने वाले पुरुषकी जानकारीमें जो चीज आ सकती है फिर उसकी हो अनुपलब्धि तो वह अनुपलब्धि वस्तुके असत्त्वको सिद्ध करती है। उपलब्धि लक्षणप्राप्त वस्तुकी अनुपलब्धि होनेसे ही उसका असत्त्व व्यवहार बनता है। जैसे किसीने कमरेमें देखा -घड़ा नहीं है और वह कहता है कि घड़ा नहीं है तो घड़ेका असत्त्व सिद्ध हो जायगा। पर कोई यों कहे कि वहाँ पिशाच शरीर नहीं है, परमाणु नहीं है तो इसे कौन मान लेगा ? और, केवल इस अनुपलब्धिके कहनेसे उसके नास्तित्वकी सिद्धि कैसे हो जायगी ? जो चीज दृश्य हो सकती है फिर वह दृश्य न मिले तो उसका असत्त्व कहा जा सकता है। परमाणु आदिक पदार्थ अदृश्य हैं अनुपलब्धि लक्षणप्राप्त है, उनकी कभी उपलब्धि हम आप लोगोंको होती नहीं तो हम आप अल्पज्ञोंके जाननेमें परमाणु नहीं आ रहे प्रत्यक्षसे उपलब्धि नहीं हो रही तो उपलब्धि न होकर भी अर्थात् अनुपलब्धि होकर भी परमाणुके अभावकी सिद्धि नहीं की जा सकती। जैसे कोई पुरुष कहता है कि यहां घड़ा नहीं है अनुपलब्धि होनेसे। यों कोई यह नहीं कह सकता कि यहाँ परमाणु नहीं है अनुपलब्धि होनेसे। परमाणु तो अदृश्य है। अदृश्यकी अनुपलब्धिसे अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। जो वस्तु दृश्य है फिर उसकी उपलब्धि न हो तो अभाव सिद्ध बन सकता है। तो यहाँपर उपलब्धि लक्षणकी प्राप्तिका ही नाम स्वभाव विशेष है और उसके जो अन्य कारण हैं चक्षु-प्रकाश आदिक उनका जुट जाना वह स्वभाव विशेष है। तो जब स्वभाव विशेषकी उपलब्धि न हुई तब ही तो असत्त्व सिद्ध हो सका। तो उस अनुपलब्धिका भी समर्थन विपक्ष व्यावृत्तिरूप पड़ता है।

अविप्रकृष्ट एवं अन्यारोहरूपसे प्रत्यक्ष प्रतिभासिरूपकी अनुपलब्धिसे असत्त्वके व्यवहारकी शक्यताका शंकाकार द्वारा वर्णन—अनुपलब्धि हेतुसे जो पदार्थका असत्त्व माना जाता है वह अनुपलब्धि हेतु उपलब्धिको प्राप्त हो सकने वाले पदार्थोंकी अनुपलब्धिरूप है और यह एक स्वभाव विशेष है अर्थात् उपलब्धि लक्षणसे प्राप्त होने वाले वस्तुका ही ऐसा स्वरूप है कि वह उपलब्धिमें आ जाता है। इसी प्रकार चक्षु आदिक अनेक कारणोंकी समग्रता होना सब कारणोंका जुट जाना यह भी स्वभाव विशेष है। यह स्वभाव विशेष जहाँ पाया जा सकता है फिर उसकी उपलब्धि न हो तो उससे नास्तित्व सिद्ध होता है। इसी सम्बन्धमें स्पष्टीकरण करते

हैं कि जो पदार्थ न तो देशविप्रकर्षी हो अर्थात् दूरदेशमें जो अत्यन्त दूर है, परोक्षभूत क्षेत्र है, न तो उससे सम्बन्धित हो और न कालविप्रकर्षी हो अर्थात् बहुत अतीतकालमें जो कुछ हुआ हो वह परोक्षभूत है, ऐसा न बहुत अतिकालसे सम्बन्धित हो तथा न स्वभावविप्रकर्षी हो। जैसे परमाणु आदिक स्वभावतः अतिसूक्ष्म हैं और वे परोक्षभूत हैं। ऐसे सूक्ष्म पदार्थ भी न हों, स्वभावविप्रकर्षी न हों, साथ ही जो जानने वाले पुरुषोंके प्रत्यक्षमें इस तरहसे प्रतिभात होते हों कि अन्य स्वरूपके प्रतिभासका अपोह करते हों अर्थात् अन्यापोहके रूपसे जो प्रतिभासमें आता हो। जैसे कहा कि घड़ा, तो वह घड़ा इस रूपसे प्रतिभासमें आ सकता है कि यह अन्य अन्य चीज नहीं है, कपड़ा आदिक नहीं है। इस तरह अन्यापोहके रूपमें प्रतिभासी बन रहा हो वह ही स्वभाव विशेष कहलाता है, ऐसा स्वभावविशेष जिसमें है फिर भी न पाया जाय तो उससे असत्वका व्यवहार बनता है कि यहाँ यह चीज नहीं है। ऐसा स्वभावविशेष, अन्य चक्षु आदिक उपलब्धिके कारणोंके होनेपर भी, यदि ऐसा स्वभावविशेष नहीं पाया जा रहा है तो वह असत्वके व्यवहारका विषय बनता है अर्थात् उससे समझा जाता है कि पदार्थ नहीं है। उदाहरणमें लीजिये—जैसे किसी पुरुषने कमरेमें निहारकर कहा कि यहाँ घड़ा नहीं है तो घड़ा न तो देशविप्रकर्षी है, न कालविप्रकर्षी है, न स्वभावविप्रकर्षी है याने घड़ा इस क्षेत्रमें बराबर देखा जाता है तब घड़ा विप्रकर्षी पदार्थ नहीं है। साथ ही प्रतिपन्नके याने जाननहार पुरुषके प्रत्यक्षमें इस विवेकके साथ प्रतिभासमें आ रहा है कि यह कपड़ा, चौकी, पुस्तक आदिक अन्य पदार्थ नहीं है। तब उसमें स्वभाव विशेष पाया गया वह कि जिसकी अनुपलब्धिसे घड़ा नहीं है ऐसा व्यवहार बनता है। इसका अर्थ देखिये! कोई कहे कि यहां पिशाच शरीर नहीं है तो पिशाच शरीर स्वभावविप्रकर्षी है। जैसे परमाणु स्वभावविप्रकर्षी है स्थूल पदार्थ नहीं है, हम आप लोगोंके दिखनेमें आ सकने योग्य नहीं है, अतएव वह स्वभावविशेष ही नहीं है। साथ ही उसके अन्यापोहरूपसे प्रतिभास होता ही नहीं है। तो उसकी अनुपलब्धिसे अर्थात् पिशाच शरीर हम आप लोगोंको नहीं दिख रहा है तो इस अदर्शनमात्रसे हम पिशाच शरीरके असत्वको सिद्ध नहीं कर सकते। वहाँ संदेह है, हो भी सकता, नहीं भी हो सकता। उपलब्धि लक्षणप्राप्त वस्तुकी अनुपलब्धिसे अन्य प्रकारकी अनुपलब्धि मानने पर याने अदृश्यकी अनुपलब्धिसे असत्वको सिद्ध करनेका प्रयास करनेपर उस लिंग में संशय हो जाता है, हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। तो सत्व आदिक की तरह इस जगह भी यह व्याप्ति बनती है कि सभी वस्तु हो इसी प्रकारसे असत्ताके व्यवहारका विषय बनती है याने उपलब्धिमें आ सकती हो, दिखनेमें आ सकती हो और फिर उसकी अनुपलब्धि हो, न दिख रहा हो, न मिल रहा हो तब उससे असत्ता का व्यवहार बनता है कि अमुक पदार्थ यहाँ है नहीं।

अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तकी अनुपलब्धिसे असत्वके व्यवहारकी अशक्यताका शंकाकार द्वारा समर्थन—कोई यहां यदि ऐसी आशंका करे कि अनुपल-

ब्ध अर्थात् जो मिल नहीं रहा, न दिख रहा ऐसा पदार्थ भी तो असत्त्वके व्यवहारका कारण होता है याने अनुपलब्ध होनेसे असत्ताका व्यवहार बनता है तब उस अनुपलब्धिमें ऐसा विशेषण क्यों लगाया जा रहा है कि उपलब्धि लक्षणसे प्राप्त हुई वस्तु की अनुपलब्धि हो तब यह नहीं है यह व्यवहार बनेगा, यह कहना संगत है, ऐसी कोई आशंका करे तो उनके प्रति यही एक संक्षिप्त समाधान है कि यदि किसी खर विषाण आदिक असत पदार्थका सर्वदा ही अभ्युपगम माना जाय, उसको सदा ही मान लिया जाय तो घट आदिक पदार्थोंमें और खरविषाण आदिकमें कोई लक्षणकी विशेषता नहीं रहती। घट भी सदा पाया जाता है और खरविषाण भी यहां सदा मान लिया गया है। तो जब कोई इसमें विशेषता न रही तब हर बातमें संशय हो जायगा घटमें, खरविषाणमें फिर तो असत्ताका व्यवहार बन ही नहीं सकता। उपलब्धिलक्षण प्राप्त वस्तुका असत्त्व न माननेपर अर्थात् जो चीज दिख सकती है मिल सकती है उसकी अनुपलब्धि होनेसे सत्ताका व्यवहार बनता है। यों असत्त्व न माननेका योग जायगा अर्थात् वह भी सत् हो बैठेगा पर गधेकी सींग कोई सत् तो नहीं है। अथवा उसे भी उपलब्धिलक्षण प्राप्त मान लिया जायगा तो इस प्रकारकी उपलब्धि लक्षण प्राप्त खरविषाण आदिक जो कल्पित सत् हैं उनकी अन्य उपाधिके कारणोंके होनेपर भी अनुपलब्धि नहीं है अतः जो स्वभाव विशेष बनकर, दिखने मिलनेके योग्य होकर फिर अनुपलभ्यमान हो, न पाया जाता हो, वह ही इस व्यवहारका पात्र हो सकता है कि यह पदार्थ नहीं है।

समर्थनको अनिग्रहस्थान कहनेका शंकाकार द्वारा उपसंहार—इस सब कथनका सारांश यह निकला कि अनुपलब्धि हेतुको हम नास्तित्वको सिद्ध करने वाला जो हम बताते हैं और उसका समर्थन करते हैं तो विपक्ष व्यावृत्तिके बलपर ही करते हैं। अनुपलब्धि हेतु भी असपक्षमें नहीं रहता अतएव वह हेतु है और उससे साध्यकी सिद्धि होती है। तब अनुपलब्धि हेतुका भी समर्थन निग्रहके लिए नहीं हैं। वह तो हेतुका लक्षण है। और ऐसी अनुपलब्धि उस पदार्थमें कही जा रही है जो पदार्थ विप्रकर्षी नहीं है, अन्यापोह रूप भी समझा जाता है उसकी अनुपलब्धि हो तो उससे असत्त्व सिद्ध किया जाता है। अदृश्यानुपलब्धि रूप हेतु असत्ताके व्यवहारका कारण नहीं बन सकता है तो इस प्रकार अनुपलब्धि हेतुमें भी यह बात सिद्ध होती है कि इस हेतुका समर्थन कोई अलग तत्त्व नहीं है, किन्तु विपक्षव्यावृत्ति ही इस समर्थनका रूप है। और, यही बात तीन प्रकारके हेतुओंमें पायी जाती है। कार्यहेतु, स्वभाव हेतु और अनुपलब्धि हेतु इन तीनों हेतुओंमें विपक्षव्यावृत्तिका ही समर्थन किया गया है। और, विपक्षव्यावृत्ति हेतुका तृतीयरूप है। हेतुमें तीन लक्षण होते हैं— पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति। तो हेतुका जो समर्थन किया जाता है वह समर्थन विपक्षव्यावृत्ति ही है। इस तरह समर्थन यदि किया गया है तो हेतुके लक्षणका ही स्पष्टीकरण किया गया है। यदि इस प्रकारका समर्थन न किया जाय तो इसका अर्थ

यह हुआ कि साधनका अंग जो तीन रूप है उसे नहीं कहा गया। और इस समर्थनका न होना असाधनाङ्ग वचन बनेगा। याने साधनके अंगको कहा ही नहीं गया। तो यह बात निग्रहके लिए बनेगी। और समर्थन किया जायगा तो निग्रह न बनेगा। समर्थन न करना ही निग्रह है। पराजय है, पर निगमन आदिक जो अन्य अंग हैं वे हेतुरूपसे भिन्न हैं, अतएव निगमन आदिका कहना अनर्थक है।

प्रकृत शंकाके भावका उपसंहार - क्षणिकवादी कह रहे हैं कि समर्थनका प्रयोग तो निग्रहके लिये नहीं है। पर निगमन आदिकका प्रयोग करना निग्रहके लिए हैं क्योंकि वह हेतुरूपसे अतिरिक्त बात है। जब त्रिलक्षण हेतुके द्वारा साध्य अर्थका ज्ञान बन जाता है तब निगमन आदिकका प्रयोग बन जाता है तब निगमन आदिकका प्रयोग अनर्थक है। इस कारणसे समर्थन निगमन आदिकसे कुछ अतिशयविशेषका भाव लिए हुए हैं। समर्थनके बिना अनुमानकी सिद्धि नहीं होती। यह हेतुका स्वरूप है, लेकिन निगमन आदिकके प्रयोग बिना भी अनुमानकी सिद्धि हो जाती है इस कारण यह आक्षेप देना कि साधर्म्यका वचन कहनेपर वैधर्म्यका वचन यदि निरर्थक मानते हैं, वचनाधिक्य मानते हैं तब फिर हेतुका समर्थन भी वचनाधिक्य हो जायगा सो यह आक्षेप युक्त नहीं है बल्कि यह आक्षेप बराबर व्यवस्थित है कि जब एक बार विधिरूपसे अर्हन्तकी आप्तता है निर्दोष होनेसे ऐसा जब व्यवस्थित कर दिया तब फिर यह कहना कि एकान्तवादित है और उनकी आप्तता नहीं है यह वचनाधिक्य है और वचनाधिक्य होनेसे निग्रहस्थान है ऐसा वचनाधिक्यका प्रयोग नहीं करना चाहिए फिर भी आचार्यने कहा, यह उनके अज्ञानकी सिद्धि करता है।

समर्थनप्रयोगातिरिक्त अन्य निगमनादि प्रयोगको निग्रहस्थान बताने की शंकाका निराकरण—अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि क्षणिकवादियों ने जो कुछ भी कहा है वह उन्होंने अपने दर्शनके अनुराग मात्रसे कहा है। यहाँ समाधान नैयायिक दे रहे हैं कि देखो सौगतोंने भी, क्षणिकवादियोंने भी निगमन आदिक के प्रयोग साधर्म्यका अवयव माना है। जब जब भी उनका अनुमान प्रयोग होता है उससे क्या फलित निकलता है यह तो बताया ही। और फलित बात बता देना इस हीका नाम निगमन है। न्यायशास्त्रमें कहा है कि प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन ये ५ अवयव होते हैं अनुमानमें। सो निगमनका प्रयोग या अन्यका प्रयोग, प्रतिज्ञाकी तरह नहीं कहते हैं तो न्यून नामका निग्रहस्थान हो जाता है। जब अनुमान सिद्ध करनेके अवयव ५ हैं तो उन ५ मेंसे कुछ कम अवयवका प्रयोग करना यह न्यून नामका निग्रहस्थान है। और, यों न्यून अवयवका प्रयोग करने वाला पराजयका पात्र है। न्यायशास्त्रमें कहा है कि अनुमानके अंगोंमेंसे यदि हीन रह जाय कोई अंग तो वह न्यून नामका दोष कहलाता है। नैयायिक ही कह रहे हैं कि हे क्षणिकवादियो ! यदि तुम यह कहो कि साधनका अवयव होनेपर भी निगमन आदिकका

प्रयोग करना अयुक्त है क्योंकि हेतु प्रयोगसे ही साध्यभूत अर्थका ज्ञान हो जाता है। तो ऐसा कहनेपर यह भी कहा जा सकता है कि समर्थन चाहे हेतुका स्वरूप रहे लेकिन निर्दोष हेतुके कहने मात्रसे ही जब साध्यकी सिद्धि हो जाती है तो समर्थन का कहना भी अनर्थक है और फिर ऐसी स्थितिमें समर्थन निगमन आदिकसे बढ़कर उपयोगी कैसे हो सकता है ? कोई बुद्धिमान पुरुष ऐसा भी होता है कि जिसने अनुमान का प्रयोग सुना और हेतुके सुनते ही साध्यभूत अर्थका ज्ञान करलें, उन्हें समर्थन सुनने की आवश्यकता नहीं रहती। तब देख लीजिए, समर्थनको यद्यपि क्षणिकवादियोंने हेतुका ही एक रूप माना है लेकिन निर्दोष हेतुके प्रयोग मात्रसे उस हेतुके विषयमें कुछ भी समर्थन विवरण किए बिना ही जब साध्यकी सिद्धि हो जाती है तो हेतु समर्थनका प्रयोग करना अनर्थक कैसे न होगा।

अन्यथानुपपन्न हेतुके प्रयोगसे साध्यार्थकी प्रतिपत्ति होजानेके कारण पक्षधर्मत्व आदिके प्रयोगकी व्यर्थताका क्षणिकवादमें प्रसंग— अब यहाँ क्षणिक वादी कह रहे हैं कि विपक्ष व्यावृत्ति जिसका रूप है ऐसे हेतुका समर्थन यदि नहीं किया जाता तो पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्वके रूप रहनेपर ही वह हेतु साध्यका गमक नहीं बन पाता है, लेकिन निगमन आदिकका प्रयोग न भी करे तो भी हेतु साध्यका गमक बन जाता है। हेतुके समर्थन मात्रसे वह हेतु साध्यको सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाता है। इससे सिद्ध है कि हेतुका समर्थन निगमन आदिकके प्रयोगसे बढ़कर उपयोगी है। इस शंकाके समाधानमें स्याद्वादी कहते हैं कि ऐसा कहकर क्षणिक सिद्धान्तानुयायी खुद अपने आप अपना विघात कर रहे हैं। यों देखा जाय तो पक्षधर्मत्व और सपक्ष-सत्त्व भी हेतुके अवयव नहीं बनते हैं। हेतुका लक्षण तो अन्यथानुपपन्नत्व ही प्रमाण सिद्ध होता है। अन्यथानुपपन्नत्व उसे कहते हैं कि जिसके बिना जो न हो, उसके होने पर साध्यकी सिद्धि अवश्य होती है। जैसे धुवाँ देखकर अग्निको सिद्ध कर देते हैं अनु-मानसे तो उस धूममें अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् अग्निके बिना धुवाँ हो नहीं सकता। तो ऐसे ही जितने हेतु हैं वे यदि साध्यके बिना होने वाले नहीं हैं तो उन हेतुओंके होने से साध्यकी सिद्धि हो जाती है। तो यों हेतुका अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण है और वही अन्यथानुपपन्नत्व ही समर्थनरूप बनता है। अन्यथानुपपत्तिकी जो व्याख्या है साध्यके न होनेका जो विवरण किया जाता है वही समर्थन कहलाता है। विपक्षमें हेतुके न रहनेरूप समर्थनका विवरण भी अन्यथानुपपन्नत्वका विवरण है। ऐसे हेतुसे वास्तवमें साध्यका ज्ञान होता है। अन्यथानुपपत्वका अर्थ यह है कि साध्यके बिना नहीं हो सकता साधन सो जो साधन साध्यके बिना कभी होता ही नहीं है तो वह साधन साध्य को अवश्य सिद्ध करता है। तो हेतुमें अन्यथानुपपत्तिकी विशेषता होनी चाहिए। उस से ही देह साध्यका ज्ञान होता है। तो जब अन्यथानुपपन्नत्वके होनेपर ही हेतु अपना प्रयोजन सिद्ध कर पाता है तो पक्षधर्मत्व आदिकके प्रयोग करनेपर अब उस वादीका असाधनाङ्ग वचन बन जायगा और निग्रह स्थान बन जायगा। क्षणिकवादी हेतुके

तीन स्वरूप मानते हैं । हेतुका पक्षमें रहना, हेतुका सपक्षमें रहना और हेतुका विपक्ष में न रहना लेकिन जब हेतुके अन्यथानुपपन्नत्वकी सिद्धि की जायगी कि साध्यके बिना न हो ऐसा है यह साधन सो यह साधन साध्यका गमक हेतु कहलाता है । सो इस अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुके प्रयोगमात्रसे अनुमानकी सिद्धि होगी तब पक्षधर्मत्व आदिक का प्रयोग करना भी वचनाधिक्य हो जायगा, और उससे पराजय हो जायगी ।

प्रतिपाद्यानुरोधसे भी अतिरिक्त वचन कहनेका निग्रहस्थान माननेका आग्रह करनेपर इन आग्रहियोंके सिद्धान्तवचनमें भी पद पदपर वचनाधिक्य का प्रसंग यदि शंकाकार यह कहे कि जिसको समझाया जा रहा है ऐसे शिष्यके अनुरोधसे पक्षधर्मत्व आदिक कहा जाता है तो उस कथनसे निग्रह नहीं होता, पराजय नहीं होता । तो उत्तरमें कहते हैं कि यह बात निगमन आदिकके प्रयोगको भी समझ लीजिये । प्रतिपाद्य पुरुष जिसको कि समझाया जाता है उसकी बुद्धि मंद है या वह कुछ समझनेकी जिज्ञासा कर रहा है तो उसके अनुरोधसे निगमन आदिकका प्रयोग भी करना निग्रहके लिए नहीं होता तब पक्षधर्मत्व आदिकके प्रयोगमें निगमन आदिक के प्रयोगसे कोई भी विशेषता नहीं रहती । जो बात पक्षधर्मत्वके सम्बन्धमें कह सकते हो वही बात निगमनके सम्बन्धमें घटित होती है । शंकाकार कहता है कि हमारा तो यही आग्रह है कि प्रतिपाद्यके अनुरोधसे भी यदि अतिरिक्त वचन बोले जाते हैं, अतिरिक्त असाधनाङ्ग वचन हैं अर्थात् जो अनुमानका साधन करनेका अंग नहीं है उसका कथन है और इस असाधनाङ्ग वचन होनेसे वह सब निग्रह स्थान बन जाता है । अर्थात् इस तरह चाहे शिष्य मंदबुद्धि हो अथवा उसका अनुरोध हो फिर भी निग्रह आदिको यदि कोई कहता है तो वह असाधनाङ्ग वचन है और इससे उसका पराजय निश्चित है । इस शंकामें उत्तरमें कहते हैं कि यदि यह ही हठ की जा रही है कि प्रतिपाद्यके अनुरोधसे भी कोई यदि अतिरिक्त वचन बोलता है तो वह असाधनाङ्ग वचन है और पराजयका साधन है, तो ये क्षणिकवादी स्वयं अपने सिद्धान्तकी बात देखें कि जब सब पदार्थोंका क्षणिकादिक एक सत्त्व हेतु उन्होंने अपने मनभर सिद्ध कर दिया कि सभी पदार्थोंकी नश्वरता सिद्ध कर ली गई उसके बाद फिर दूसरा हेतु देना कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, विनाशीक हैं उत्पत्तिमान होनेसे, तो क्या यह दूसरा हेतु प्रयोग वचनाधिक नहीं है और वचनाधिक होनेसे क्या यह असाधनाङ्ग वचन न हो जायगा । और इसके प्रयोगसे क्या पराजय न हो जायगी । इसके बाद भी और देखिये ! दो हेतुवोंसे भी सिद्ध कर दिया कि समस्त पदार्थ विनाशीक हैं, अब उसके बाद और हेतु देना कि समस्त पदार्थ विनाशीक हैं, कृतक होनेसे । तो क्या यहाँ तीसरा हेतु वचन प्रयोग भी अतिरिक्त कथन होनेसे असाधनाङ्ग वचन है अतएव पराजयका पात्र है । इसके अतिरिक्त और भी सुनो—जब यह अनुमान प्रयोग किया कि सभी पदार्थ विनाशीक हैं कृतक होनेसे तो कृतक शब्दका अर्थ क्या है ! कृत—चाहे कृत कहो अथवा कृतक कहो । "स्वार्थे कः" इस सूत्रसे क प्रत्यय कर दिया गया है अर्थात् कृतक होनेसे । इतना लम्बा

शब्द बोला इसके बजाय यह बोलना था कृत होनेसे । कृतका भी अर्थ "किया गया" है और कृतकका भी अर्थ "किया गया" है । तो यहाँ क शब्दका देना क्या वचनाधिक्य नहीं है ? इसी प्रकार इस ही अनुमान प्रयोगमें जब यह हेतु देते हैं कि प्रयत्नानन्तरीयक होनेसे । अर्थात् प्रयत्नके बाद होनेसे, तो यह शब्द भी सीधा प्रयत्नान्तरीय है । अब उसमें क और जोड़ दिया तो क जोड़ना क्या वचनाधिक्य नहीं है ? वचनाधिक्य है । तो कितना असाधनाङ्ग वचन बोल दिया गया । सो यह सब वचन क्षणिकवादियोंके पराजयके लिए ही होगा । और भी सुनिये, यदि यह आग्रह किया जाय कि शिष्यके अनुरोधसे भी अतिरिक्त वचन कह देना असाधनाङ्ग वचन है और असाधनाङ्ग वचन है अतएव निग्रहस्थान है और वह पराजयके लिए है, तो देखिये किसी अनुमानमें पक्ष धर्मत्व दिखाना भी असाधनाङ्ग वचन बनेगा, क्योंकि 'और शब्द सत् है" इस प्रकार तो अपने आप ही बात सिद्ध हो जाती है विधिवत् अनुमान प्रयोगसे तब हेतुके जो तीन लक्षण कहे हैं पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, इनमें पक्षधर्मत्व भी एक वचनाधिक हो गया, अतः यह मान लेना चाहिए कि जिस प्रकारसे शिष्य समझ सके उस प्रकारसे वर्णन कर देना दोषमय बात नहीं है ।

कृतकत्व उत्पत्तिमत्त्व हेतुके प्रयोगमें वचनाधिक्य न होनेका शंकाकार द्वारा कथन—अब शंकाकार कहता है कि जिस अद्वैतवादी योगाचारके सिद्धान्तमें निरुपाधिसत्त्व माना गया है । निरुपाधिका अर्थ है उपाधि रहित । जिस सत्त्वके साथ कुछ भी विशेषण नहीं लगाना है, केवल अस्तित्वमात्र ऐसा सत्त्व जिन क्षणिकवादियोंके यहाँ माना गया है उनको तो शुद्ध स्वभाव हेतुका ही प्रयोग किया जाता है । जैसे कि शब्द नश्वर है सत्त्व होनेसे । यों केवल विशुद्ध सत्त्व हेतु देकर ही शब्दकी क्षणिकता सिद्ध कर दी जाती है, क्योंकि वह निर्विशेषण सत्त्वको भले प्रकार समझता है । लेकिन जिसके सिद्धान्तमें अभिन्न विशेषण वाला सत्त्व प्रसिद्ध है उनको उत्पत्तिमत्त्व हेतु देकर क्षणिक सिद्ध किया है । याने सत्त्व निर्विशेषण है इसका तो अर्थ यह है कि सत्त्व केवल अस्तित्वमात्र है । उस सत्त्वमें कुछ अन्य बात न दिखाना सो तो है निरुपाधिसत्त्व और उस सत् पदार्थमें कुछ और बात भी बताना यह कहलाता है उपाधि सहित सत्त्व । सो उपाधि है दो प्रकारकी—एक तो अभिन्न उपाधि । जो सत्त्व से अर्थान्तर नहीं है, ऐसी उपाधि । और एक होती है भिन्न उपाधि—जो सत्त्वसे अर्थान्तरभूत है । जिसका विशेषण किसी अन्य पदार्थके योगसे लगाया गया है । तो इन दो प्रकारके विशेषणोंमेंसे अभिन्न विशेषणकी बात कह रहे हैं अभी कि जिसके सिद्धान्तमें अनर्थान्तरभूत विशेषण वाले सत्त्व प्रसिद्ध हैं उनके अनर्थान्तरभूत विशेषण से समझाया जाता है कि शब्द नश्वर है उत्पत्तिमान होनेसे । तो यहाँ ऐसा प्रतिपाद्य को समझाया जा रहा है कि इस अभिन्न विशेषणके द्वारा समझ सकते हैं तो वहाँ उत्पत्तिमान हेतु कहना अतिरिक्त वचन नहीं होता । वह साधनांग वचन ही है । किन्तु, जो पुरुष अर्थान्तरभूत विशेषण वाले सत्त्वको मानते हैं जैसे नैयायिक तो उन

को अर्थान्तरभूत विशेषणसे ही समझाया जायगा जैसे कि उनको समझानेके लिए अनुमान प्रयोग किया है शब्द नश्वर है कृतक होनेसे । यहां कृतक भिन्न विशेषण वाला कहा है । इसको यों समझिये कि कृतक कहते हैं उस भावको जिसमें परका व्यापार अपेक्षित होता है । कृतकका अर्थ है किया गया होनेसे । किया गया यह बात परके व्यापारकी अपेक्षाको सिद्ध करता है । घड़ा किया गया इसके मायने यह ही तो है कि उस घड़ेकी उत्पत्ति परके व्यापारसे हुई है । अनित्यत्वने परके व्यापारकी अपेक्षा की अर्थात् दूसरेके व्यापार के आधीन है घड़ेका होना । तो जो लोग कृतक मानते हैं उनके प्रति कृतक हेतु देकरके अनुमान प्रयोग किया गया है । इस कारण कृतकत्व हेतुका प्रयोग करना भी वचनाधिक नहीं है । अतिरिक्त वचन नहीं है अतएव वह भी असाधनांग नहीं है ।

क प्रत्ययसहित शब्दके प्रयोगमें और पक्षधर्मत्वके समर्थन प्रयोगमें वचानाधिक्य दोष न होनेका शंकाकार द्वारा कथन अब कृतकत्व और प्रयत्नानन्तरीयकत्वमें जो क शब्द जोड़ा गया है उस क शब्दकी बात सुनो । यह भी अतिरिक्त वचन नहीं है, क्योंकि क प्रत्यय होता है स्वार्थमें याने जिस शब्दका जो अर्थ अपने आप है उस ही अर्थको प्रसिद्ध कराने वाला है क प्रत्यय । ऐसे क प्रत्ययका कथन ऐसे पुरुषोंके प्रति किया जाता है जो क प्रत्यय वाले शब्दकी प्रसिद्धि होनेसे क प्रत्ययसहित शब्दसे अर्थ जल्दी समझते हैं । याने, क शब्दकी प्रसिद्धि वाले शब्दका जो उच्चारण और अनुसरण करते हैं ऐसे वादियोंके प्रति कृतकी जगह कृतक शब्द और अन्तरीयकी जगह अन्तरीयक शब्दका प्रयोग कर देना अतिरिक्त वचन नहीं है क्योंकि क सहित प्रयोग किए बिना उन वादियोंको सन्तोष नहीं होता । जिन वादियोंकी आदत क सहित प्रयोगकी पड़ी हुई है उन वादियोंके प्रति क शब्द सहित प्रयोग किया गया है । जो जिस जिस प्रकारके वादी होते हैं, जिस जिस प्रकारके कथन कहनेसे उस साध्य की प्रसिद्धि होती है, उनको उस ही प्रकारका प्रयोग करनेपर सन्तोष होता है । अब पक्षधर्मत्वकी बात सुनो ! जो समाधानकर्ताने यह कहा है कि पक्षधर्मत्वका दिखाना भी अतिरिक्त वचन हो जायगा सो सुनो—जब यह प्रयोग किया कि जो सत् है वह सब क्षणिक है जैसे कि घट । इतने शब्दके प्रयोगसे ही शब्द नामक पक्षमें निर्विवाद रूपसे सत्वका ज्ञान हो गया । हो गया हम भी मानते हैं, फिर भी और शब्द सत् है इस तरह पक्षधर्मत्वकी बात दिखाना अतिरिक्त वचन नहीं है, क्योंकि जो पुरुष पक्षधर्मत्व को दिखाये बिना शब्दमें सत्वकी बात समझनेके लिए असमर्थ हैं उन वादियोंके प्रति पक्षधर्मत्वकी बात दिखाई गई है । और, जो पक्षधर्मत्वका प्रयोग किए बिना समझ सकते हैं उनके प्रति पक्षधर्मत्वकी बात नहीं भी कही जाती है । एक नीति है कि विद्वान पुरुषोंको उतने शब्द बोलना चाहिए कि जितने शब्द कहनेसे वह अर्थका ग्रहण कर सके । तो जो तत्ववेदी है, अनुमान प्रयोगके कथनमें अतिकुशल हैं ऐसे पुरुषोंको केवल हेतु ही कहना चाहिए तब यह सब प्रयोग किसीके पराजयके लिए नहीं बनता ।

इस प्रकार शंकाकारने अपने अनुमानको प्रसिद्ध करनेके लिए जो जो भी युक्तियाँ और शब्दोंका प्रयोग किया था उन सबका समर्थन किया कि ये सब अतिरिक्त वचन नहीं हैं अतएव वे सब प्रयोग पराजय करनेके लिए समर्थ नहीं है।

अपने सिद्धान्तकी सिद्धिके प्रयोजनमें वचनाधिक्यको निग्रहस्थाम न मानने वाले शंकाकारकी शंकाका समाधान – अब उक्त प्रकारसे शंका करने वाले क्षणिकवादियोंको समाधान दिया जाता है और उस समाधानके प्रसंगमें बड़े आश्चर्यके साथ यह बात कही जाती है कि देखिये ! प्रतिपाद्य पुरुषोंके अनुरोधसे इतनी बातें इन क्षणिकवादियोंने मान लीं कि सत्व हेतु कहनेके बाद उत्पत्तिमत्व हेतुको कह देना अतिरिक्त वचन नहीं, फिर कृतकत्व हेतुका कहना भी अतिरिक्त वचन नहीं। क का प्रयोग करना भी अतिरिक्त वचन नहीं। इतने तक वचनोंको तो प्रतिपाद्यके अनुरोधसे शंकाकारने साधनांग वचन मान लिया और इस प्रकरणमें एक बातको अन्वय विधि से साधर्म्य वचन बोला है या कहीं वैधर्म्य वचन कहनेके बाद साधर्म्य वचन बोल दिया जाय उसको नहीं चाहते, यह कितने आश्चर्यकी बात है। शिष्योंके ही समझानेके अभिप्रायसे एक ही बातको विधिरूपसे कहकर फिर निषेधरूपसे समझा देना कोई अतिरिक्त बात है क्या ? आखिर शिष्यको सत्य बात समझानेका ही तो प्रयत्न है। वह कैसे अतिरिक्त वचन हो जायगा ? और कैसे निग्रह स्थान बन जायगा ? इस नीतिसे तो इस प्रकरणमें निर्दोष वचन होनेसे अरहंत भगवान ही आप्त हैं, अनेकान्त शासन अबाधित है, ऐसा साधर्म्य वचन कहकर फिर अगली कारिकामें वैधर्म्य वचनसे तत्त्वको सिद्ध किया है कि जो एकान्तवाद है वह प्रत्यक्षसे बाधित है। एकान्तवादकी बाधितता स्पष्ट समझमें आनेसे अनेकान्तकी अबाधितताका ज्ञान दृढ़ होता है। यह तो बड़ा खास प्रयोजन है। तो एक भलाईका जहाँ प्रयोजन है उसको सिद्ध करने वाला वचन क्षणिकवादी न चाहे और अपने लिए कितने ही अतिरिक्त वचनोंको साधनाङ्ग मान ले यह अचरजकी ही तो बात है। और, प्रतिपाद्यके अनुरोधसे साधर्म्य वचन बोलकर वैधर्म्य वचन मानना यदि इष्ट है फिर इस प्रकरणके निग्रहकी बात बताना अयुक्त ही है।

उपयोगी वचन होनेपर भी सर्वथा निग्रहस्थान माननेपर पक्षधर्मत्व-प्रदर्शनके भी निग्रहस्थानवत्ताकी प्रसक्ति –और भी देखिये उपयोगी होनेपर भी अतिरिक्त वचनको निग्रहस्थान मानने वाले क्षणिकवादियोंके यहाँ अनुमानमें पक्ष-धर्मत्व दिखाना भी निग्रह स्थान बन जायगा। जैसे कि अनुमान प्रयोग किया कि समस्त पदार्थ क्षणिक हैं सत्व होनेसे तो इतने ही मात्र कथनसे शब्दमें सत्त्वकी प्रतीति हो जानेसे अब "शब्द भी सत् है" इस प्रकार पक्षधर्मत्वका कहना व्यर्थ हो जाता है। तो हेतुका जो अंग पक्षधर्मत्व बताया है उसका भी प्रदर्शन नहीं किया जा सकता है सर्वथा वचन अतिरिक्त निग्रहस्थान माननेसे इसी प्रकार त्रिलक्षण वचनका समर्थन

भी असाधनाङ्ग वचन बन जाता है। हेतुको क्षणिकवादियोंने त्रिलक्षण माना है सो ठीक है। याने जिस अनुमानका हेतु पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति इन तीन विशेषणोंसे युक्त है वह हेतु सही माना गया है। सो त्रिलक्षण हेतु है और त्रिलक्षण हेतुको कहना चाहिए इतना माननेके बाद भी त्रिलक्षण हेतु बोल देनेसे साध्यकी सिद्धि हो गई। जब त्रिलक्षण हेतु वचन बो देनेसे साध्यकी सिद्धि हो गई तब त्रिलक्षण वचनका समर्थन करना यह तो अतिरिक्त वचन हो जायगा और अतिरक्त वचन होनेसे असाधनाङ्ग वचन कहलाया और निग्रह स्थान बन गया और निग्रह स्थान बननेसे पराजय हो गया। यों त्रिलक्षण वचनका समर्थन करना भी अयुक्त हो जायगा। देखिये—पक्षधर्मत्व क्यों निग्रहस्थान है अतिरिक्त वचनको हठ करने वालेके सिद्धान्तमें। क्योंकि "और शब्द सत् है" इस प्रकारका वचन कहे बिना भी हेतुके प्रयोग मात्रसे अनुमान प्रयोग कहनेस ही शब्दमें सत्त्वकी प्रतीति हो गई। जिस बात का किसी भी शब्दसे ज्ञान हो जाता है उस बातको पुनः कहना वह अतिरिक्त वचन है और इस ही कारण यह निग्रह स्थान है। तो यों उपयोगी होनेपर भी अतिरिक्त वचनको असाधनाङ्ग वचन कहने वाले क्षणिकवादियोंके यहां पक्षधर्मत्वका समर्थन भी पराजयके लिए बन जायगा। अथवा प्रतिज्ञावचनकी तरह असाधनाङ्ग होनेपर भी यदि पक्षधर्मको निग्रहस्थान नहीं मानते, उसे शोभा और साधनाका साधक मानते हैं तो यों फिर प्रतिज्ञाका वचन आदिक भी निग्रहस्थान न बनेगा। प्रतिज्ञादि वचनको यदि असाधनाङ्ग कहते हो तो पक्षधर्मका दिखना भी असाधनाङ्ग वचन हो जायगा। तब पराजयके प्राप्त होनेसे पक्षधर्मत्व भी कहना अयुक्त बनगया।

सर्वथा अतिरिक्त वचनको असाधनाङ्ग वचन माननेपर त्रिलक्षण हेतुवचनके समर्थनकी निग्रहस्थानवत्ताकी प्रसिद्धि—निग्रहस्थानकी बात त्रिलक्षण वचनके समर्थनकी भी बन जाती है यदि अतिरिक्त वचनको सर्वथा असाधनाङ्ग मानते हैं। त्रिलक्षण हेतुको कहना यह तो युक्त मान लिया जायगा लेकिन उसका समर्थन किसलिये? जब त्रिलक्षण हेतुके कहने मात्रसे साध्यकी सिद्धि हो गई तो देखिये त्रिलक्षण वचनके समर्थन करनेके बिना भी अब यहाँ हेतु साधन का अंग बन गया। तो त्रिलक्षण वचनका समर्थन करना तो उपयोगी न रहा बल्कि प्रतिज्ञारूप वचनका कहना साधनका अंग बन गया। कैसा भी अनुमान प्रयोग हो उसमें पक्ष और साध्य तो कहना ही पड़ता है। पक्षधर्मत्व हेतु सिद्ध करनेके लिए भी तो पक्षको कहना ही पड़ेगा। और साध्य जो सिद्ध करना है वह भी आवश्यक है और प्रतिज्ञा इस हीका नाम है। पक्ष, और साध्य दोनोंके कहनेका नाम प्रतिज्ञा है। तो कहो प्रतिज्ञा वचनके बिना भी अनुमान बन सकता है क्या? प्रतिज्ञादि वचन भी साधनके अंग सिद्ध हो जाते हैं। जो अपना इष्ट मंतव्य सिद्ध करना है उसके अंगको साधनाङ्ग कहते हैं। अन्यथा अर्थात् प्रतिज्ञादि वचनको साधनका अंग न माननेपर त्रिलक्षण वचनका समर्थन भी प्रतिज्ञादि वचनकी तरह पराजयकी प्राप्तिका कारण हो जायगा।

इस कारण समर्थन और पक्षधर्मत्वका प्रदर्शन इनका निराकरण न चाहने वाले क्षणिकवादियोंको यह मानना पड़ेगा कि चाहे प्रतिज्ञा आदिक गम्यमान भी हैं फिर भी उसके वचन असाधनाङ्ग वचन नहीं कहलाते हैं। और, इस ही कारण प्रतिज्ञादि का वचन वादीके लिए निग्रहका अधिकरण नहीं बन सकता।

अप्रस्तुत नाटकादिघोषणकी अनिग्रहस्थानवत्ताकी शंका-समाधान—अब शंकाकार कहते हैं कि इस तरह तो कहीं अप्रस्तुत जिसका जो कोई प्रकरण नहीं, ऐसे नाटक आदिककी घोषणा जिसमें कि १२ प्रकारसे प्ररूपणा चलती है उन घोषणों का भी निग्रहस्थानपना न बनेगा। अर्थात् जिसमें ५ इन्द्रियाँ और ५ इन्द्रियोंके विषयभूत रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द और मानसिक ज्ञान और धर्मका आयतन ये बारह आयतन नाटक आदिकमें प्ररूपित होते हैं। ऐसे नाटक आदिककी घोषणा अप्रस्तुत भी हो, तो भी उसका निग्रहाधिकरण न बनेगा। उत्तरमें कहते हैं कि ऐसे ही सही। तथ्य यह है कि जैसे प्रतिज्ञा वचन आदिकके सम्बन्धमें कहा गया इसी तरह अन्य भी जो प्रस्तुतसे भिन्न हों, वादीने कहा तो भी यदि प्रतिवादी अपने पक्षको सिद्ध नहीं कर पाता है तो प्रतिवादीकी विजय सम्भव नहीं है और इसी कारण वादीके प्रति निग्रह स्थान कहना अयुक्त है। हाँ, अपने पक्षको यदि सिद्ध कर लेता है प्रतिवादी तो अपने पक्षकी सिद्धिके कारण प्रतिवादीकी विजय कहलायेगी और वादीकी पराजय कहलायेगी, किन्तु अप्रस्तुत आदिक वचन कहना निग्रह स्थान न बनेगा। इसी प्रकार जो यह कहा है शंकाकारने अपने सिद्धान्तमें कि साधनाङ्गका वचन न बोलना यह भी वादी का निग्रह स्थान है अर्थात् साधन कहते हैं अपने इष्ट मंतव्यकी सिद्धिको। उस सिद्धिके अंगभूत जो प्रतिज्ञा आदिक हैं उनमेंसे यदि किसीका वचन न बोल सके तो वादीका निग्रह हो जायगा, ऐसा कहना भी निराकृत हो जाता है। अपने इष्ट मंतव्यका साधन करने वाले वचनोंको कहकर फिर विशेष बुद्धि न होनेसे, प्रतिभा न होनेसे यदि वह चुप रह जाता है तो उससे माना है शंकाकारने निग्रह स्थान, लेकिन यह कथन भी निराकृत हो जाता है। कारण यह है कि जय और पराजयकी व्यवस्था केवल अपने पक्षकी सिद्धि और असिद्धि पर निर्भर है, अन्य बातपर निर्भर नहीं है। किन्हीं अन्य कारणोंसे भी यदि जय और पराजयके निर्णयमें सहयोग मिलता है तो मूल कारण स्वपक्षसिद्धि असिद्धिका उसमें अवश्य होगा। जय होता है तो अपने पक्षकी सिद्धि है, फिर चाहे अन्य युक्तियोंसे जय सिद्ध करे। पराजय होता है तो अपने पक्षकी असिद्धि से, फिर चाहे किन्हीं अन्य बातोंसे भी पराजय बताये। इसी प्रकार यह भी कथन निराकृत हो जाता है कि प्रतिवादी यदि अदोषका उद्भावन करता है याने दोषको नहीं प्रकट कर सकता है तो निग्रह स्थान बनता है अर्थात् वादीने कोई निर्दोष साधन बोला और प्रतिवादी दोषको नहीं बता पाया तो वहां जय पराजयकी व्यवस्था बताना यह इतने मात्रसे न बनेगा। वह तो जो जय पराजयका मूल कारण है उससे बनेगी।

जयपराजय व्यवस्थाके निबन्धनत्वका निर्णय—अब यहाँ क्षणिकवादी पूछते हैं कि तब वादीको करना क्या चाहिए जब प्रतिज्ञा आदिकके वचन निग्रह स्थान नहीं बनते हैं तो ऐसी स्थितिमें अब वादीका कर्तव्य क्या है ? तो उत्तरमें कहते हैं कि जो जयकी इच्छा रखने वाला वादी है उसको दो काम करना चाहिए। अपने पक्षका साधन करना चाहिए और परपक्षका दूषण देना चाहिए। उससे क्या होगा सो सुनो, स्वपक्षसाधनका वचन और परपक्ष दूषणका वचन ये दोनों कहना आवश्यक यों है कि वादी और प्रतिवादीके बीचमें यदि किसीने असिद्ध और अनैकान्तिक वचन बोल दिया तो फिर वाद कभी समाप्त न हो सकेगा, क्योंकि कुछ भी किसी ढंगसे बोलते रहना तो दोनों जगह समान हो सकेगा। न वादी चुप रहे, न प्रतिवादी तब फिर वादकी समाप्ति का कारण ही क्या बन सकेगा, क्योंकि उसजलमें किसीके भी अपने पक्षकी सिद्धि नहीं होती। तब शंकाकार कहता है कि फिर किस तरह वादी और प्रतिवादीके वादकी समाप्ति हो जायगी। जो वादविवाद छिड़ गया, शास्त्रार्थ चल गया उसकी समाप्ति किस तरह हो सकेगी ? उत्तर यह है कि विपक्षका तो निराकरण दे और अपने पक्षका साधन बना दे तो इस ही विधिसे जय और पराजयकी व्यवस्था होती है। अन्य प्रकार जय और पराजयकी व्यवस्था नहीं बन सकती।

जयपराजय व्यवस्थाके वर्णनका सारांश—जय पराजयकी व्यवस्थामें जो कुछ भी वर्णन किया गया है उस सबका सारांश यह है कि वादी और प्रतिवादीमेंसे किसी भी एकका स्वपक्ष समर्थन हो तो दूसरे वादीका निग्रह हो जाता है। जैसे कि वादीने अपने पक्षकी कोई बात प्रस्तुत की और विपक्षका निराकरण कर दिया तो उस समय वादीकी जय है और प्रतिवादीकी पराजय है। और जब प्रतिवादीने अपने पक्षको सिद्ध कर दिया तो उस समय प्रतिवादीकी जय है और वादीकी पराजय है। यों तो निग्रहस्थानकी उत्पत्ति होती है किन्तु असाधनाङ्ग वचन याने इष्ट सिद्धिके साधनभूत अगका समर्थन न कर पाना या जो साधनभूत अंग नहीं है ऐसा कोई अतिरिक्त वचन कह देना यह निग्रह स्थानके लिए नहीं है। इसी प्रकार अदोषोद्भावन अर्थात् किसी एकके कथनमें दूषणकी बात न कह सकना यह भी निग्रहस्थानके लिए नहीं है, किन्तु निग्रहस्थानका आधार यह है कि अपने पक्षकी सिद्धि न कर सकना और परपक्षका निराकरण न कर सकना इस बातको तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें कहा है कि शास्त्रीय अर्थका विचार, सम्वाद, वादविवाद अपने पक्षकी सिद्धि पर्यन्त चलती है। जो अपना इष्ट मंतव्य है उसकी सिद्धि जब तक नहीं है जब तक उस शास्त्रीय अर्थकी चर्चा है। स्वपक्ष सिद्धि पर्यन्त यह सब सम्वाद है जहाँ इष्ट मंतव्यकी सिद्धि निर्बाधरूप से हो चुकी फिर वहाँ विवादकी प्रवृत्ति नहीं रहती है। जैसे कि लौकिक बातोंका विचार और प्रवृत्ति चर्चा तब तक है जब तक कि धनप्राप्ति नहीं होती है। लौकिक पुरुषोंका इष्ट मंतव्य धन प्राप्ति है, तो उसके अर्थ ही तो श्रम चर्चा विचारणा आदिक चलता है। तो जैसे लौकिक अर्थकी विचारणा धनप्राप्ति पर्यन्त है इसी प्रकार शास्त्रीय

अर्थकी विचारणा स्वपक्ष सिद्धि पर्यन्त है। तब यही सिद्ध हुआ ना कि जो विजगीषु पुरुष है, अपने पक्षकी सिद्धि करके जयकी इच्छा रखने वाले पुरुष है उनका कर्तव्य यह है कि अपने पक्षका साधन करें और परपक्षका दूषण करे, तो किसी भी हितकारी शिक्षाके कहने वाले आचार्योंका भी यही कर्तव्य है कि वे अपने पक्षका साधन करें और विपक्षका अर्थात् अनिष्ट तत्त्वका दूषण दें।

साधर्म्य वैधर्म्य वचन द्वारा प्रकृत स्वपक्षसाधन व विपक्षबाधनके निर्देशकी उपयुक्तता— स्वपक्ष साधन व विपक्षदूषणकी कर्तव्यताकी नीतिके अनुसार ग्रन्थकार स्वामी समंतभद्राचार्यने साधर्म्यवचन और वैधर्म्य वचन दोनोंका प्रयोग किया है। प्रथम तो साधर्म्य वचन कहकर अपने पक्षका साधन किया। जैसे कि इस कारिकासे पहिलेकी कारिकामें कहा है कि हे अरहंत ! वह तुम हो निर्दोष हो। क्योंकि युक्ति शास्त्रके अविरुद्ध तुम्हारा वचन है यों स्वपक्ष साधन करके फिर इस कारिकामें वैधर्म्य वचन द्वारा परपक्षका दूषण दिया है कि जो हमारे अनेकान्त शासन रूपी अमृतसे बाह्य हैं, एकान्तवादके आवेशमें हैं उनका इष्ट तत्त्व प्रत्यक्षसे ही बाधित हो जाता है। तो यों प्रथम साधर्म्य वचन कहकर यद्यपि वैधर्म्य वचनकी बात गम्यमान थी, अपने आप सिद्ध हो जाने वाली थी। फिर भी पुरुषोंके उपकारके लिए प्रवृत्ति करने वाले आचार्य साधर्म्य और वैधर्म्य दोनोंको भी कहें सो उसमें दोष नहीं आता। अब मानो प्रभुकी ओरसे यह प्रश्न हुआ कि सर्वथा एकान्तवादियोंका भी तो पुण्य पाप कर्म और परलोक सिद्ध होता है। सर्वथा एकान्तवादी भी अनेक पुण्य पापकर्म और पुण्यपाप कर्मका फल परलोक आदिक तो मानते हैं। अतएव उनमें भी आप्तपनेकी उपपत्ति होती है। फिर हो हमारा ही महत्त्व क्यों बताया जा रहा है ? ऐसा मानो प्रभुकी ओरसे प्रश्न हुआ तो उसके समाधानमें आचार्य समंतभद्र अब यह कारिका कह रहे हैं।

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्,
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥ ८ ॥

एकान्तावादके आग्रहमें पुण्य पाप क्रिया परलोक आदिकी सिद्धिकी अनुपपत्ति— हे नाथ ! जो एकान्तवादके आग्रहसे व्यासक्त है ऐसे वादी एकान्ताग्रहके ही कारण अपने ही बैरी हैं और दूसरोंके भी बैरी हो रहे हैं। उन एकान्तके आग्रहियोंमें किसीके भी पुण्य पापकर्म और परलोककी सिद्धि नहीं होती। कर्म तीन प्रकारके होते हैं— शारीरिक क्रियाभूतकर्म वाचनिक क्रियाभूतकर्म और मानसिक क्रियाभूतकर्म। इसीको योग कहते हैं। और यह तीन प्रकारका योग काययोग, वचनयोग, मनोयोग ये आश्रव कहलाते हैं। आश्रव उसे कहते हैं कि जिस योगसे कर्म आयें। याने कर्मोंके आनेके कारणको आश्रव कहते हैं वह आश्रव दो प्रकारका है—

एक कुशलाश्रव दूसरा अकुशलाश्रव। अर्थात् शुभ आश्रय और अशुभ आश्रय, सो यह सब व्यवस्था और परलोककी व्यवस्था एकान्तवादमें यथार्थरूपसे नहीं हो सकती। परलोक उसे कहते हैं कि मरण करके उत्पन्न होना एक भवको छोड़कर दूसरी गतिके प्राप्त करनेका नाम है प्रेत्यभाव उसे ही कहते हैं परलोक। और परलोकका कारण है धर्म अधर्म। सो धर्म अधर्मका भी नाम कारणमें कार्यका उपचार करनेसे परलोक रख दिया गया है। सो एकान्ताग्रह रक्तोंमें न तो शुभ अशुभ आस्रवकी सिद्धि है और न धर्म अधर्म परलोककी सिद्धि है। और न मोक्ष स्वर्ग आदिककी सिद्धि है। जो अनित्य एकान्त नित्य एकान्त आदिकके अभिप्रायके परवश हुए हैं उन पुरुषोंमें किसी भी प्रकारसे इन तत्वोंकी सिद्धि नहीं है।

एकान्तवादाग्रहियोंका स्ववैरित्व और परवैरित्व—एकान्ताग्रहके अनुरक्त पुरुष स्ववैरी भी हैं और परवैरी भी हैं। अपने आपके विरोधी तो यों हैं कि एकान्तवादके आग्रहमें उनके द्वारा स्वयं माने गए परलोक आदिक तत्वोंकी भी सिद्धि नहीं होती। जैसे तत्वोपप्लव मानने वाले पुरुष स्ववैरी हैं। जिनका यह सिद्धान्त है कि तत्व है ही नहीं कुछ। तो यह जगत तत्वशून्य है यह प्रमाणसे सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि प्रमाण भी तत्व नहीं माना। तो इस प्रकार शून्यवादी पुरुष अपने आपके स्वयं वैरी है। यों ही एकान्तवादी पुरुष जो कुछ परलोक आदिक कहते हैं उसकी वे एकान्तवादके कारण सिद्धि नहीं कर सकते हैं। इस कारण वे स्वयंके वैरी हैं। अब यहाँ एकान्तवादाग्रही कोई कहे कि वे स्वयंके वैरी हैं यह बात भली प्रकार सिद्ध नहीं होती तो सुनो। एकान्तवादी पुरुष स्वयंके वैरी हैं। क्योंकि परवैरी होनेसे। एकान्तवादियोंके लिए यह सिद्धान्त है अनेकान्त। जो अनेकान्त शासनसे वैर रखते हैं वे अपने एकान्त वक्तव्यके भी विरोधी बनते हैं। इसका स्पष्ट करण सुनो! कौन तो स्व हैं और कौन पर है आप इसका विचार कीजिए। पुण्य पापकर्म, पुण्यपापकर्मका फल, सुख दुःख और शुभ अशुभके आश्रव और उस पुण्यपापसे सम्बन्ध है जिसका या धर्म अधर्मका कार्य कारण रूप है सम्बन्ध जिसका, ऐसे परलोक आदिक ये सब स्व कहलाते हैं। जो तत्व है, जिससे आत्माकी रक्षा होती हो, जिसके यथार्थ ज्ञानसे आत्मा हेय उपादेयका त्याग और ग्रहण करके अपना लाभ पा सकता हो वे सब तत्व स्व हैं और उससे सम्बन्ध रखने वाले परलोक आदिक भी स्व हैं, क्योंकि इन सब बातोंको एकान्तवादियोंने स्वयं भी माना है। तो जो स्वयको भी इष्ट हो वह स्वयका स्व है और पर क्या है? अनेकान्त। क्योंकि एकान्तवादियोंको अनेकान्त अनिष्ट है। तो ऐसे इस अनेकान्त शासनके विरोधी होनेका नाम है परवैरी होना। तो वे परवैरी हैं क्योंकि उन्होंने अनेकान्त शासनका प्रतिषेध किया है। तो जो अनेकान्त शासनके विरोधी हैं ऐसे पुरुष अपने आपके शासनके भी वैरी हैं। यह बात सिद्ध होती है क्योंकि कर्मफल और उससे सम्बन्ध रखने वाला परलोकादिक जो एकान्तवादियोंको प्रायः इष्ट है वह सब इष्ट तत्व अनेकान्तका प्रतिषेध करनेसे बाधित हो जाता है।

अनेकान्त मतका भी समर्थन नहीं किया जा सकता है। जो अनेकान्तका निषेध करे वह कर्म परलोक आदिकको सिद्ध नहीं कर सकता इस कारण परबैरी होनेसे वे अपने आपके भी बैरी हैं यह बात सिद्ध होती है।

अनेकान्तके वादप्रतिषेधसे एकान्तवादोपकल्पित परलोकादिकी असिद्धि

शंकाकार कहते हैं कि शून्यवादियोंने और अद्वैतवादियोंने परलोक आदिकको माना ही नहीं है। तब यह कहना कैसे ठीक है कि समस्त एकान्तवादियोंको पुण्य पाप परलोक आदिक इष्ट हैं, क्योंकि शून्यवादियोंने तो कोई तत्त्व माना ही नहीं, यदि वे परलोक आदिक मान लेते हैं तो उनका शून्यवाद समाप्त हो जाता है, इसी प्रकार अद्वैतवादी भी पुण्य पाप प्रयोगादि मान लेते हैं तो वहाँ द्वैत आ जाता है, अतएव ये सब इनको अनिष्ट हैं। तो जब शून्यवादियोंको और अद्वैतवादियोंको पुण्य, पाप, कर्म परलोक आदि अनिष्ट हैं तो यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि एकान्तवादियोंको यह सब इष्ट है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि शून्यवादियोंने और अद्वैतवादियोंने भी किसी ढंग से प्राय: करके परलोक आदिक माना है। माया कहकर माना, मिथ्यारूप कहकर माना, किसी भी रूपमें इन सबने परलोक आदिकको माना है और जब तुमने भी, क्षणध्वस्त तत्त्ववादियोंसे भी अपने ढंगका परलोक आदिक माना है तब यह कहना संगत हो जाता है कि अनेकान्तका प्रतिषेध करनेसे एकान्तवादियोंके अपने माने हुए परलोक आदिक भी सिद्ध नहीं होते।

अनेकान्तस्वरूपके प्रतिषेधसे कर्म, परलोक आदिके प्रतिषेधकी अनिवार्यता - शंकाकार पूछते हैं कि अनेकान्तके प्रतिषेध करनेसे कर्म परलोक आदिक कैसे बाधित हो जाते हैं? समाधानमें कहते हैं कि इन शून्यवादियोंने और अद्वैतवादियोंने क्रम अथवा अक्रम दोनों ही प्रकारोंमें उस परलोकादिकको सिद्ध नहीं कर पाया है। शून्यवादमें क्रम अथवा अक्रमकी कल्पना ही कैसे होगी? अद्वैतवादमें यदि क्रमसे मानते हैं कुछ बात तो अद्वैत कैसे रहा? अक्रमसे मानते हैं तो सब कुछ एक साथ हो जानेकी आपत्ति है। सो चाहे नित्य एकान्त मानें चाहे अनित्य एकान्त मानें या शून्यवाद मानें, किसी भी एकान्तवादमें क्रम और अक्रमका निषेध है क्योंकि क्रम और अक्रम वहाँ ही समझा जा सकता है जहाँ अनेकान्तका आलम्बन हो। अनेकान्तसे ही क्रम और अक्रम व्याप्त है। और जब अनेकान्तका प्रतिषेध करते हैं एकान्तवादी तो क्रम और अक्रमका प्रतिषेध स्वयं सिद्ध हो जाता है। क्योंकि व्यापक यदि निवृत्त हो जाता है तो वहाँ व्याप्य भी नहीं ठहर सकता। व्यापक है अनेकान्त और व्याप्य है क्रम अक्रम। अनेकान्तका प्रतिषेध करनेसे क्रम अक्रम भी नहीं ठहरता। क्योंकि अर्थक्रियाके सम्बन्धमें जब यह पूछा जायगा कि बतलावो पदार्थोंमें काम क्रमसे होता है या एक साथ होता है? तब दोनों विकल्पोंमें समाधान नहीं। यदि क्रमसे होता है तब न नित्य एकान्त रह सका और न अनित्य एकान्त रह सका। यदि कहा जाय

कि एक साथ क्रिया होती है तो भूत भविष्यमें जितनी भी अर्थक्रियायें हो सकती हैं वे सबके सब एक साथ होने पड़ेगी। तब भी व्यवस्था नहीं बनती। तो यों क्रम और अक्रमका निषेध हो जानेपर अर्थक्रिया भी निसिद्ध हो जाती है, क्योंकि अर्थक्रिया तो क्रम और अक्रमसे व्याप्त है कुछ भी क्रिया होवो हो उसमें क्रम और अक्रमका निषेध करनेपर अर्थक्रिया न बन सकी और अर्थ क्रियाके न होनेसे पुण्य पाप या किसी भी प्रकारकी क्रिया बन नहीं सकती है क्योंकि कर्म अर्थक्रियासे व्याप्त है। कर्मका अर्थ यही है कोई परिणति होना, अर्थक्रिया होना। तो जहाँ अर्थक्रिया नहीं है वहाँ किसी भी प्रकारका कर्म नहीं हो सकता।

अनेकान्तवादके प्रतिषेधसे एकान्तवादकी सिद्धि करनेकी अशक्यता— और, भी देखिये — अनेकान्तके प्रतिषेध करनेसे क्षणिक आदिक एकान्तका भी पराजय होता है। अर्थात् जो लोग अनेकान्तको नहीं मानते वे अपने इष्ट क्षणिक आदिक एकान्तको भी सिद्ध नहीं कर सकते। क्योंकि क्षणिक आदिक एकान्त अनेकान्तके अविनाभावी है किस तरह सो सुनो यह बतलावो कि कोई एकान्तवाद यदि है तो वह एकान्तवाद भी एकान्तवादके स्वरूपसे है। और, क्या वह अनेकान्तवादके स्वरूप से भी है? तब यही तो कहना पड़ेगा कि एकान्तवादका मंतव्य एकान्तवादके स्वरूपसे सत् है और अनेकान्तरूपसे असत् है। अब देखिये —इसमें अनेकान्तका प्रयोग आ गया अपने आप। कोई भी अपने मतव्यको सिद्ध करना चाहेगा तो उसे अस्ति और नास्तिका प्रयोग करना ही होगा कि इस मंतव्यसे यह है अन्य मंतव्यसे नहीं है। तो इस तरह एकान्तवादकी सिद्धिका प्रयोग अनेकान्तका अविनाभावी है। यदि उस एकान्तवादसे अनेकान्तके अविनाभावी रूपसे नहीं परखते है तो एकान्तवादकी अथवा अर्थक्रियाकी व्यवस्था नहीं बन सकती। यों यह सिद्ध हुआ कि जो शासन अनेकान्त शासनका विरोधी है वह अपने शासनका भी विरोधी है। क्योंकि अनेकान्तका विरोध करनेसे अपना इष्ट मंतव्य तत्त्वका भी समर्थन नहीं कर सकता और जब ये एकान्तवादी अनेकान्तके बैरी बन गए तब कर्मादिक तो हो न सकेंगे। क्योंकि कर्म क्रिया, परिणति, इनका आशय है अनेकान्त। और जब अनेकान्तके बैरी हो गए, अनेकान्त मानना ही नहीं चाहते तो कर्मकी परिणति की सिद्धि कैसे हो सकेगी?

अनेकान्त शासनके प्रतिषेधसे कर्म, जप, तप, आचरण आदिकी असिद्धि व व्यर्थता— अनेकान्तके न माननेपर कर्मादिक भी अनाश्रय ही रह जाते हैं और जब एकान्तवादमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती है तब फिर तप, जप करना आदिक आचरण सब विफल हो जायेंगे, क्योंकि जप,तप किए जाते हैं अपने कर्मोंके क्षयके लिए किन्तु जब परिणति ही सिद्ध नहीं हो रही तब जप तप आदिक आचरणोंका उपदेश निराधार हो गया। और इससे अपने ही मंतव्यका घात हो गया। इसका कारण यह है कि किसी भी एकान्तमें चाहे वह सत्वका एकान्त हो अथवा इसमें सबका एकान्त

हो, नित्य एकान्त हो, अनित्य एकान्त हो, किसी भी एकान्तमें कर्म आदिकका किसी भी अनुष्ठानसे, किसी भी आचरणसे इस संसारी दशामें आत्मामें प्रवृत्ति नहीं हो सकता। जैसे सर्वथा ही सत् मान लिया तब उसमें क्रियाकी उत्पत्तिका अवसर ही क्या ? उत्पत्ति तो होती ही है, जो न हो, उसकी। जहाँ सर्वथा ही सत् मान लिया वहाँ क्रिया काण्ड, अर्थ क्रियाकी उत्पत्तिका उपादान ही नहीं है और उपादानरहित कार्य कभी होता ही नहीं। जो लोग नित्य एकान्त मानते हैं वहाँ जब अपरिणामी है वह वस्तु तो परिणमनका, उत्पत्तिका अवसर ही क्या है ? जो सर्वथा अनित्य मानते हैं उनके भी कर्मकी सिद्ध नहीं होती अतएव एकान्तवादमें न अर्थक्रिया बनती है और न जप तप आदिक आचरणकी बात बनती है।

नित्यैकान्तमें परलोक व्रत तप आदिकी अनुपपत्ति व क्षणिकैकान्तमें परलोकादिकी सिद्धिका शंकाकार द्वारा कथन—अब यहाँ क्षणिकवादी योगाचार माध्यमिक जन शंका करते हैं कि यदि, पुण्य पाप नामके किसी भी कर्मका किसी अनुष्ठानसे, किसी आत्मासे संसारी दशामें यदि उत्पत्ति नहीं होती तो मत हो। अनुष्ठान भी क्या ? शरीरादिकका कोई व्यापार किया गया वही तो अनुष्ठान है। ऐसे अनुष्ठानसे यदि किसी संसारी जीवमें पुण्य पाप कर्मकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जैसे कि उक्त विवरणमें आक्षेप किया गया है तो उत्पत्ति मत हो, पुण्य और पाप मत बनो, हमको कुछ अनिष्ट नहीं है. क्योंकि जो सर्वथा सत् है, अनादि अनन्त शाश्वत् सद्भूत है ऐसे सर्वथा सत्में पुण्य और पाप नामक कर्मका उत्पन्न होना घटित ही नहीं होता। और, इसी प्रकार कर्मका जो फल है—शुभ गति मिलना, अथवा अशुभ गति मिलना, ऐसा जो परलोक मिलनेका फल है वह कर्मफल भी मत होओ, क्योंकि कर्म को भी जैनोंने नित्य माना है। कार्माण जातिका एक द्रव्य है, उस द्रव्यको शाश्वत माना है, द्रव्य तो न मिटेगा। तो यों सर्वथा सत् कर्म भी है, तो उसका भी फल मत बनो, क्योंकि सर्वथा सत्में उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान या आचरण आदिक भी मत बनो। जो मोक्षके लिए तत्त्वज्ञानका प्रयत्न किया जाता है या तपस्या का आचरण किया जाता है वह भी नहीं बन सकता और मत बनो, क्योंकि यहाँ भी सर्वथा सत्वकी बात मानी गई है। नित्य आत्मा परलोकादिक तो क्षणिकवादमें माने ही नहीं गया है। ऐसा परलोक नहीं माना गया क्षणिकवादमें कि कुछ था पहिले और उसका ही कुछ रूप बन गया, किन्तु था कुछ नहीं, एकदम नया आत्मा बन गया, तो इस प्रकार असत्की तो कारणसे उत्पत्ति हो सकती है जो पहिले असत् है, पीछे उसका प्रादुर्भाव देखा जाता है, किन्तु जो सत् है पहिलेसे तब उसके प्रादुर्भावका अव ही क्या है ? अत: कर्म कर्मफल परलोक तत्त्वज्ञान ये कुछ नहीं बनते तो मत बनो, असत्रूप मान करके इसकी उत्पत्ति मानी जा सकती है। इस प्रकार यहाँ शंकाकार यह सिद्ध कर रहे हैं कि क्षणिक एकान्त माननेपर ही तत्त्वकी व्यवस्था बनती है अन्यथा याने नित्य सर्वथा सत् माननेपर यह सब कुछ भी नहीं बन सकता है।

उक्त शंकाके समाधानमें सर्वथा असत् एकान्त माननेपर कर्म परलोक आदिके जन्मकी असिद्धि व कल्पित मिथ्या प्रतिभासोंके अनुपरमके प्रसगका प्रतिपादन शंकाकारका उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है कारण कि सर्वथा सत् माननेपर अथवा सर्वथा असत् माननेपर दोनों पक्षोंमें परलोक आदिककी उत्पत्तिका विरोध समानरूपसे सिद्ध होता है। अर्थात् सर्वथा सत् मानें तो वहाँ भी परलोक आदिककी उत्पत्ति नहीं बनती। और सर्वथा असत् मानें तो वहाँ भी परलोक आदिक की उत्पत्ति नहीं बनती। केवल सर्वात्मकरूपसे सबका सत्त्व माननेमें ही परलोक आदिक विरुद्ध होते हों सो बात नहीं, किन्तु सर्वथा अभाव माननेपर भी जैसे कि क्षणिकवादियोंने माना है कि असत्की उत्पत्ति होती है। तो यों सर्वथा अभाव माननेपर भी जन्म होना विरुद्ध रहेगा क्योंकि फिर तो जो मिथ्या प्रतिभास होते हैं उनका कभी उपरम (समाप्ति) ही न हो सकेगा। यदि सर्वथा सत् मानते हैं और फिर मिथ्या प्रतिभास मानें तो उनका विराम कब होगा। इसी प्रकार सर्वथा असत् माननेपर भी व्यलीक (मिथ्या) प्रतिभास माननेसे उनका विराम फिर कब होगा? शंकाकार कहते हैं कि देखिये शून्यवादी माध्यमिकके सिद्धान्तमें स्वप्न दृश्यकी तरह जागृत दशामें भी जो मिथ्या प्रतिभास कर्मादिकके हो रहे हैं—पुण्यकर्म, पापकर्मादिक किए जानेके जो मिथ्या प्रतिभास होते हैं उनके यहां मिथ्या प्रतिभासोंके अनुपरमका प्रसंग कैसे होगा? जैसे स्वप्नदशामें मिथ्या प्रतिभास देखा जाता है। कुछ है ही नहीं और जंगल, सिंह, पर्वत आदिक सब स्वप्नमें दिखा करते हैं। तो देखिये—ये मिथ्या प्रतिभास सदा तो नहीं रहते, वे तो मिट ही जाते। स्वप्नमें भी मिट जाते और जगनेपर तो मिट ही जाते हैं। तो मिथ्या प्रतिभासोंमें मिट जानेका माद्दा है तो यों ही जागृत दशामें जो भ्रमसे मिथ्या प्रतिभास हो रहे हैं वे भी मिट जायेंगे। तो अब मिथ्या प्रतिभासरूप कर्मादिकका अनुपरम प्रसंग न आयगा याने ये मिथ्याप्रतिभास न मिटेंगे ऐसी नौबत न आवेगी इस ही कारण कल्पनासे कर्मादिककी उत्पत्ति मानना अविरुद्ध नहीं होना। याने ये कर्मादिक परलोकादिक वस्तुतः नहीं है कि पहिले सत् हो कोई और फिर उसका परलोक हुआ हो। किन्तु कल्पनासे ही यह सब उत्पत्ति मानी जाती है इसमें कोई विरोध नहीं आता। उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह बात समुचितक नहीं है। इस कथनमें जो उदाहरण दिया है वह उदाहरण साध्यसम ही असिद्ध है। जैसे कि स्वप्नदशामें मिथ्या प्रतिभास अहेतुक होनेके कारण कभी उपरम उनका हो जाय यह नहीं होगा, ऐसा प्रसंग आ जाता है। इसी प्रकार शून्यवादियोंके यहाँ भी जो मिथ्या प्रतिभास हुए हैं स्वप्नमें हुए हों या जागृत दशामें हुए हों वे भी अहेतुक हैं, इस कारण उनका भी अनुपरम याने बना रहना ही रहेगा। ऐसा प्रसंग आता है। शंकाकारने जागृत दशामें, पुण्य पाप आदिक क्रियाओंके मिथ्या प्रतिभास होनेपर भी नष्ट होनेकी बात बतायी है और उसमें उदाहरण दिया है स्वप्न दशाका तो पहिले यही तो सिद्ध करलो कि स्वप्नदशामें जो मिथ्या प्रतिभास

होते हैं उनका उपरम भी हो सकता है। अहेतुक होनेसे स्वप्नदशामें भी जो मिथ्या प्रतिभास होते हैं, उनका भी उपरम नहीं हो सकता। और, यदि सहेतुक मान लेते तब तो कार्य कारणभाव मानना और उपादान निमित्त मानना ये सब सिद्धान्त ही न ठहरेगा। तो स्वप्नदशामें भी जो झूठ बातें ज्ञानमें आती हैं वे भी अहेतुक होनेसे कभी मिटना न चाहिए, यह प्रसंग आता है। तो शंकामें जो उदाहरण दिया गया है वह उदाहरण साध्यसम असिद्ध है। अहेतुक ही स्वप्नदशाके मिथ्या प्रतिभास है और अहेतुक ही जागृत दशाके मिथ्या प्रतिभास हैं तो अहेतुकपनेकी अविशेषता होनेसे स्वप्न अवस्थामें भी मिथ्या प्रतिभासका अनुपरम होनेका प्रसंग आ रहा है।

शून्यवादमें मिथ्या प्रतिभासोंको अविद्याहेतुक मानकर स्वेष्टसिद्धिका अविकल प्रयास करनेका प्रतिपादन—शङ्काकार कहते हैं कि जो मिथ्या प्रतिभास है वह अहेतुक नहीं है। अविद्याकी वासनाके कारण वे हुए, तो अविद्या वासनाके कारणसे मिथ्या प्रतिभासकी उत्पत्ति होनेके कारण मिथ्या प्रतिभासको अहेतुक न कहा जायगा। इसके उत्तरमें कहते हैं कि अनादिकालीन जो अविद्या वासना है, जिसके कारणसे पहिले मिथ्या प्रतिभासोंकी उत्पत्ति कहकर उन प्रतिभासोंको अहेतुक सिद्ध करना चाहते हो वह अविद्या वासना सद्भूत है या असद्भूत है पहिले यह हो बताओ अनादि कालीन अविद्या वासना जब असत्रूप है तो वह मिथ्या प्रतिभासोंका कारण नहीं बन सकता। कारण कि जो सत् है, जिसकी सत्ता ही नहीं है वह किसी भी कार्यका कारण नहीं हो सकता। जैसे आकाशका पुष्प असत् है तो वह किसी भी कार्यका कारण नहीं हो सकता। यदि कहो कि अनादि अविद्या वासना सत्रूप है तो जब उस अविद्या वासनाको सत्रूप मान लिया तो सर्वथा शून्यवाद अब तो न रहा। अविद्या वासना तो सत् बन गया। शंकाकार कहते हैं कि अविद्या वासना कल्पनासे सत् स्वरूप है इस कारणसे शून्यवादका अवतार बराबर सही रहता है क्योंकि अविद्या वासना परमार्थतः सत् नहीं है, अतएव शून्यवाद ही रहा। अविद्या वासना तो कल्पनासे सत् है। तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि अनादि कालीन अविद्या वासना कल्पनासे ही सत् है, परमार्थसे सत् नहीं है तो जो वास्तवमें है ही नहीं, परमार्थसे असत् ही है वह अविद्या कैसे मिथ्या प्रतिभासका कारण हो सकता है? क्योंकि जो स्वरूपसे सत् हो वह ही कोई मिथ्या प्रतिभासको उत्पन्न करता हुआ देखा गया है। याने जो सत्य प्रतिभास हैं उनको भी कोई सत् ही उत्पन्न कर सकता है, और जो मिथ्या प्रतिभास हैं उनको भी कोई स्वरूपसे सहित ही उत्पन्न कर सकता है। जैसे कि नेत्रमें तिमिरादिक रोग हुए तो मिथ्या प्रतिभास होने लगता है। जैसे एक चन्द्रके दो दिखने लगे या वस्तु पीली दिखने लगी आदिक कुछ भी मिथ्या प्रतिभास हो तो वह तभी तो है जब कि नेत्रमें तिमिर आदिक रोग हो रहे हैं। याने सत्रूप ही तिमिरादिक मिथ्या प्रतिभासोंको उत्पन्न करता है इस ही प्रकार सद्रूप ही कोई वस्तु मिथ्या प्रतिभासोंको उत्पन्न कर सकती है। असती अविद्या मिथ्या प्रतिभासोंको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं

हो सकती। क्या असत् खरविषाण किसी मिथ्या प्रतिभासको उत्पन्न कर सकता है ? तो जो असत् है वह मिथ्या प्रतिभासोंको उत्पन्न नहीं सकता। अविद्या मान ली गई है परमार्थसे असत् तो उसके कारणसे मिथ्या प्रतिभास नहीं हो सकता। और जब मिथ्या प्रतिभासोंका कोई कारण न बन सका तो सर्वशून्यवादियोंके यहाँ मिथ्या प्रतिभासोंके अनुपरम रहनेका प्रसंग आता ही है। उसका अनुमान प्रयोग बना लीजिए। सर्वशून्यवादियोंके यहाँ मिथ्या प्रतिभासोंका उपरम नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्या प्रतिभास अहेतुक है।

नित्यैकान्त, शून्यैकान्त, ज्ञानक्षणैकान्त, ज्ञानार्थक्षणैकान्तादि एकान्तवादोंमें कर्म, परलोक अर्थक्रियाकी अनुपपत्ति—उक्त वर्णनोंसे यह सिद्ध होता है कि सर्वथा अभाव एकान्तमें अर्थात् शून्य एकान्तवादमें किसी भी कारणसे, किसी भी समय कहीं भी उत्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ अनेकान्तका प्रतिषेध किया गया है। वस्तु है सदसदात्मक अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे सत्रूप है पर्यायदृष्टिसे अन्य पर्यायों की अपेक्षा असत्रूप अनेकान्तका प्रतिषेध किया है सर्वथा शून्यवादियोंने अतएव वहाँ भी परलोकादिककी उत्पत्ति सम्भव नहीं होती। जो सर्वथा सत् मानते हैं तो वहां उत्पत्ति कैसे बने, क्योंकि उत्पत्ति यदि मान ली जाती है तो सर्वथा सत् नहीं ठहरता। वह पहिले कुछ था अब और कुछ बन गया। और बने तो सर्वरूपसे सत् तो न रहा। इसी तरह जो लोग सर्वथा असत् क्षणिक मानते हैं उनके यहाँ भी कार्य नहीं बन सकता क्योंकि कार्यके लिये उपादान चाहिए। उपादानरहित कोई भी कार्य नहीं देखे गए। घड़ा भी बना तो उसका उपादान मिट्टी तो है ही। सो यदि उपादान मान लिया जाता तो सर्वथा असत् तो न ठहरता फिर और यों केवल शून्यवादमें ही कार्य के जन्म न हो सकनेका दोष नहीं है, किन्तु जो लोग निरन्वय ज्ञान मानते हैं अर्थात् केवल अंतस्तत्त्वका, ज्ञान क्षणका ही सिद्धान्त मानते हैं उनके यहाँ भी कार्यजन्मकी सिद्धि न होगी और जो लोग ज्ञानक्षण और अर्थक्षण अर्थात् अंतस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व दोनोंको ही निरन्वय सत् मानते हैं तो उनके सिद्धान्तमें भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि तीनोंके यहाँ भी याने शून्यवादी, ज्ञान तत्त्ववादी और ज्ञान तथा बाह्य अर्थके सिद्धान्त वाले इन तीनोंके वहां भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं बन सकती परलोकादिक सिद्ध नहीं हो सकते। क्योंकि अहेतुकपना सबमें घटित हो रहा है। और, जहाँ अहेतुकता है वहाँ जन्म बनता नहीं। यदि अहेतुक होनेपर भी जन्म मान लिया जाय तो फिर उसके कार्यका कभी उपरम (खातमा) नहीं हो सकता है।

पूर्वक्षणसे उत्तरक्षणकी उत्पत्ति मानकर कार्यको सहेतुक सिद्ध करनेका शंकाकारका विफल प्रयास—अब शंकाकार कहते हैं कि अन्तस्तत्त्वका सिद्धान्त माननेवाले योगाचारके यहाँ तो यह बताया है कि पूर्व विज्ञानसे उत्तर विज्ञानकी उत्पत्ति होती है और जो लोग अन्तस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व दोनोंको मानते

हैं याने ज्ञानक्षण और अर्थक्षण दोनोंको मानने वाले सौत्रान्तिक हैं उन क्षणिकवादियों के यहाँ माना गया है कि पूर्व अर्थक्षणसे उत्तर अर्थक्षणकी उत्पत्ति होती है और पूर्वज्ञानक्षणसे उत्तर ज्ञानक्षणको उत्पत्ति होती है। उसकारण इन दोनों क्षणिकवादियोंके यहाँ कार्यनिष्कारण कैसे कहा जासकता है ? देखो ! जो लोग क्षणिक ज्ञानमात्र ही तत्त्व मानते हैं उनके यहां तो उस ज्ञानसे पहिले जो ज्ञान हुआ था उससे उत्तर ज्ञानक्षणकी उत्पत्ति हुई है और तो अचेतन पदार्थक्षणकी भी उत्पत्ति मानते हैं जैसे नील तो नील अब जो उत्पन्न हुआ है उससे पहिले जो नील था उससे उत्पत्ति हुई है। यों पूर्वक्षणक्षयसे उत्तरक्षणकी उत्पत्ति मानते हैं फिर योगाचार और सौत्रान्तिकोंके यहाँ क्षणसे कार्यको निष्कारण कैसे कहा जा सकता है ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि जो लोग पूर्वक्षणसे याने पूर्वक्षणक्षयसे उत्तर क्षणकी उत्पत्ति मानते हैं वह बतायें कि पूर्वक्षणरूप कारण क्या कार्यके सम्बन्धको पाये बिना ही कार्य कर देता है या कार्यके सम्बन्धको पा करके कार्य किया करता है ? जैसे तीसरे मिनटका कारण चौथे मिनटके कार्यको उत्पन्न करता है ऐसा जो मान रहे हैं सो वे यह बतायें कि तीसरे मिनटका कारण चौथे मिनटके कार्यको पाकर चौथा मिनट पाकर करता है या चौथा मिनट पाये बिना कर डालता है ? इन विकल्पोंमेंसे यदि यह कहा जाय कि कार्यके समयको प्राप्त नहीं करता पूर्वक्षण और वह कारण कार्यको कर देता है तो यह बात बिल्कुल असिद्ध है। कार्यके समयको प्राप्त न करने वाले पदार्थमें कारणपना नहीं बन सकता है। जो पदार्थ कार्यके समय रह ही नहीं सकता वह कार्यका कारण कैसे बन सकेगा, अन्यथा चिरकालके अतीत पदार्थ भी किसीका कारण बन जाय। जैसे १० मिनट पहिलेका पदार्थ १० मिनट बादके कार्यका कारण तो नहीं होता। क्यों नहीं होता कि कार्यके समयमें वह कारण ही नहीं है। तो यों ही तीसरे मिनटमें रहनेवाला कारण जब चौथे मिनटमें रहता ही नहीं तो चौथे मिनटके कार्यको कैसे कर सकेगा ? यदि दूसरा विकल्प मानते हो कि कार्यके समयमें प्राप्त हुए कारणमें भी कारणपना देखा जाता है सो बात बिल्कुल गलत है। कार्यके समयमें जो जो पदार्थ ज्योंका त्यों उपस्थित है तो वह कारण ही नहीं बन सकता। जैसे बछड़ेके शिरमें दो सींग उत्पन्न होते हैं दाहिना और बायाँ, तो वे दोनों एक साथ हैं ना, तो समान समयमें रहने वाले उन दो सींगोंमें क्या यह निर्णय है कि दाहिने सींगकी उत्पत्ति होनेमें बायाँ सींग कारण है या बायें सींगकी उत्पत्ति होनेमें दाहिना सींग कारण है ? तो जो एक समय में उपस्थित हों उनमें कार्य कारणपना कैसे बनेगा ? अन्यथा अर्थात् कार्यकालमें आये हुए पदार्थोंको बिना नियमके कारण बना दीजिए कार्यके समयमें रहने मात्रसे याने उसमें कारणपना मान लिया जाय तो समान समयमें रहने वाले विश्वमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब कार्यमें कारण बन बैठेंगे ? अतः पूर्वक्षण उत्तरक्षणके कार्यका कारण है, वह बात सिद्ध नहीं होती।

यद्भावाभाव होनेपर यद्भावाभाव वाले कार्यमें कारणपनेके नियमकी

क्षणिकवादमें असिद्धि—अब शंकाकार कहते हैं कि बात यह है कि जिसके होनेपर कार्य हो और जिसके न होनेपर कार्य न हों, वही तो कारण बन सकता है। कार्यके समय सारे विश्वके पदार्थ हैं, फिर भी सब कारण न बनेंगे। कार्यके साथ जिसका अन्वयव्यतिरेक है वह ही कारण बन सकता है। इस कल्पनापर समाधान करते हैं कि देखिये! जिसको कारणरूपसे माना है क्षणिकवादियोंने अर्थात् पूर्वक्षण, सो पूर्व-क्षणके होनेपर उत्तरक्षणरूप कार्य तो हुआ नहीं और उत्तर क्षणरूप कार्य स्वयं ही पूर्वक्षणरूप कारणके बिना हो गया तो इससे यह सिद्ध कि पूर्वक्षणका उत्तरक्षण कार्य नहीं है। उत्तर क्षणरूप कार्य में पूर्वक्षणका कारणपना सिद्ध नहीं होता। जैसे कि अन्य कार्य। अन्य कार्योंका पूर्वक्षण कारण तो नहीं है। क्योंकि उसके होनेपर अन्य कार्य हो नहीं रहे। और उस पूर्वक्षणके न होनेपर विश्वके सारे अन्य कार्य स्वयं हो रहे तो इस कारणसे जैसे अन्य कार्यों का कारण पूर्वक्षण नहीं है उस ही प्रकार किसी उत्तरक्षणका भी पूर्वक्षण कारण नहीं है. क्योंकि अब पूर्वक्षणके अभावमें भी उत्तर-क्षणकी उत्पत्ति होगयी अथवा उत्तरक्षणरूप कार्य में पूर्वक्षणका कार्य नहीं सिद्ध होता है, क्योंकि पूर्वक्षणके न होनेपर भी वह उत्तरक्षणरूप कार्य बन गया। अर्थात् पूर्वक्षण के रहते संते तो उत्तरक्षण वाला कार्य हुआ नहीं, और, पूर्वक्षणवर्ती कारणके न रहनेपर अब उत्तरक्षणवर्ति कार्य होगया। इससे सिद्ध है कि पूर्वक्षण और उत्तक्षणमें कारण कार्यपना नहीं है।

पूर्वक्षणके क्षयके अनन्तर कार्योत्पत्तिका नियम माननेकी असिद्धि—अब शंकाकार कहते हैं कि देखिये पूर्वक्षणके अनन्तर कार्य ही तो सम्भव होता है। पूर्व समयमें जो पदार्थ था अब उत्तर समयमें जो कुछ होगा वह उसका कार्य ही तो होगा, इसके समाधानमें कहते हैं कि यह बात यों संगत नही कि यह नियम यदि बताया जाय कि पूर्वक्षणके अनन्तर कार्य होता हो है तो फिर अन्य समयमें वह कार्य क्यों नहीं होता? जैसे कि तीसरे मिनटका पदार्थ चौथे मिनटके कार्यका कारण बनता है तो अर्थ तो यही हुआ ना कि जब तीसरे मिनटका पदार्थ न रहा तब चौथे मिनटका कार्य बना। तो ५वें ६वें आदिक मिनटमे भी वह तीसरे मिनट वाला कारणभूत पदार्थ नहीं है। तो अब वे सारे कार्य भी उस तीसरे मिनटके कार्य क्यों नहीं कह-लाते हैं? क्योंकि पूर्वक्षणका अभाव तो भविष्यमें अब सदा ही बना हुआ है। तो भविष्यके सारे पदार्थ फिर कार्य कहलाने लगेंगे। अतः यह युक्ति भी ठीक नहीं है कि पूर्वक्षणके अनन्तर ही कार्य निरन्तर होता है। अब शंकाकार कहता है कि कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं कि कालान्तरमें भी हो जाया करते हैं। जैसे चूहीका विष या पागल कुत्तेका विष, इनका असर बहुत समय बाद होता है। पागल कुत्ते ने आज डसा हो किसीको तो उसके विषका असर ८–१० सालके बाद भी हो जाता है। इसी प्रकार चूहीके विषका भी तुरन्त असर नहीं होता। किन्तु कुछ महीने बाद उसके विषका विकार होता है। तो देखिये कि कारणके क्षयके महीनों वर्षों बाद भी उसका कार्य

देखा जाता है। सो यों आक्षेप करना कि पूर्वक्षणका क्षय यदि उत्तर क्षणके कार्यका कारण है तो अन्य कालमें कार्य क्यों नहीं बन जाता यह कहना, आक्षेप देना ठीक नहीं है। बन भी जाते हैं कितने हो कार्य बहुत बहुत समयके बाद। और, भी देखिये हाथकी रेखाये तो आज नजर आ रही है और वे रेखायें बताती हैं कि यह पुरुष १०-५ वर्ष बाद राजा होगा। तो बहुत भविष्यके राजपदका कारण बहुत भविष्यके कार्य का भी कारण बन जाता है। इस शकाके उत्तरमें कहते हैं कि अब देख लो बात यहां यह आ गई कि समर्थ कारणके होनेपर कार्य नही हुआ और फिर कालान्तरमें वह कार्य हुआ और, इस तरह कार्यकी उत्पत्ति मान रहे हो तो फिर नित्य पदार्थमें अर्थक्रिया बन सके इसके विरोधकी बात नहीं रहती है।

सर्वथा नित्यवाद और सर्वथा क्षणिकवाद दोनोंमें अर्थक्रियाकी असिद्धि—नित्यमें तो अर्थपना होनेसे अर्थात् सदा सत्त्व होनेसे कार्यकी उत्पत्ति घटित नहीं होती है। क्योंकि नित्यमें क्रियाका विरोध है, नित्य है तो क्रिया और परिणति कैसे सम्भव होती ? यह बात कहते हो तो क्षणिकसिद्धान्तमें भी असत्त्वके कारण अर्थक्रिया नहीं बन सकती। जब कुछ है ही नहीं, तो अर्थक्रिया कहांसे बन सकेगी ? कार्यके प्रति तो सत्त्व भी अकारण है और असत्त्व भी अकारण है। सदा सत् रहे उससे जैसे कार्य नहीं मानते। इस ही प्रकार कुछ भी नही है और एकदम कुछ कार्य बन जाय यह भी बात नहीं बन सकती है। इस कारण पूर्वक्षणसे उत्तरक्षणकी उत्पत्ति होती है। यह कहना भी अयुक्त है। जब अपनी सत्ताके सम्बन्धसे पहिले व पीछे याने पूर्वक्षणवर्ती जो कारणभूत पदार्थ है उसकी सत्तासे पहिले या पीछे जब कारण रहा ही नहीं तो अपने ही कालमें नियतरूपसे होने वाली अर्थक्रिया उत्पन्न हो जाय और सदा रहने वाले कार्यमें अर्थक्रिया न हो यह नियम नहीं बन सकता है। जब नित्यमें अर्थ क्रियाका विरोध करते हो तो अनित्य माननेपर असत् माननेपर भी अर्थक्रिया नही बन सकती।

कारणसामर्थ्यापेक्षता आदि विशेषणोंसे भी सर्वथा नित्यपक्षकी भांति सर्वथा क्षणिकपक्षमें भी स्वकालनियत अर्थक्रियाकी उपपत्तिकी सिद्धिका अभाव—क्षणिकवादी यहाँ कह रहे हैं कि कारणके सामर्थ्यकी अपेक्षा करने वाले फलमें कालका नियम बन जायगा अर्थात् अर्थक्रिया अपने वर्तमान कालमें नियत उत्पन्न हो जायगी अतः पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक माननेपर भी अर्थ क्रियाका विरोध नहीं होता। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा समाधान तो नित्य एकान्तवाममें भी दिया जा सकता है। जैसे कि क्षणिकवादियोंके मनमें क्षणिक कारण ऐसे कार्यको उत्पन्न कर देता है कि जो जिस समय जिस जगह जिस ढंगसे उत्पन्न होने वाला कार्य है उसको उस समय उस जगह उस ढंगसे कारण उत्पन्न कर देता है। कारणमें इस ही प्रकारका सामर्थ्य पड़ा हुआ है, सो कारण सामर्थ्यकी अपेक्षा करने वाले कार्यमें

स्वकालका नियम सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार क्षणिकवादी जैसे कालका नियम अपने सिद्धान्तमें मानता है इस ही प्रकार नित्य होता हुआ भी कारण जो जिस समय जिस जगह जिस प्रकार फल उत्पन्न होने वाला है उसको उस जगह उस ढंगसे वह नित्य कारण उत्पन्न कर देता है, क्योंकि उस नित्य कारणके सामर्थ्यकी अपेक्षा करने वाले फलमें कालका नियम बन जाता है। ऐसी कल्पना यहाँ क्या कहीं नहीं जा सकती। सो कारण सामर्थ्यकी अपेक्षा बताकर कार्यमें काल नियमकी कल्पना करना क्षणिकवादमें युक्तिसंगत नहीं है। शंकाकार कहते हैं कि जहाँ वस्तु नित्य मानी जारही है वहाँ उस प्रत्येक कार्यके प्रति उस नित्य वस्तुमें सामर्थ्यका भेद मानना पड़ेगा। और सामर्थ्यका भेद होनेसे वह वस्तु नित्य न रहेगी। अनित्य बन जायगी। अतएव नित्यपक्षमें अर्थक्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि इस तरह तो क्षणिकपक्षमें भी एक कारण एक साथ अनेक कार्योंको करने वाला होता है ना। तो प्रत्येक कार्यके प्रति सामर्थ्य भेद कारणमें आ जानेका प्रसंग आ जायगा। क्षणिकवर्ती एक कारणमें कारण, स्वभावका भेद न मानने वाले क्षणिकवादियोंके यहाँ या स्वभावकार अभेद बना रहे ऐसे नाना कार्योंकी उत्पत्ति मान ली जाय तो इस तरह कूटस्थ नित्यमें भी एक ही कारण होनेपर और अभिन्न शाश्वतिक होनेपर भी नाना कार्योंकी उत्पत्ति क्रमसे क्यों न मान ली जायगी? जैसे कि क्षणिकवादमें कारण तो एक है और वह क्षणिक है—अनेक कार्योंकी उत्पत्ति हुई है। तो अनेक कार्योंकी उत्पत्ति होनेपर भी उस कारणमें स्वभाव भेद नहीं माना जा रहा। तो अभेद स्वभावी एक कारणसे जैसे नाना कार्य उत्पन्न हो गए क्षणिकपक्षमें इसी तरह नित्यपक्षमें भी अभेद स्वभावी अर्थात् त्रिकाल अभेद स्वभाव रखने वाले एक कारणसे क्रमसे अनेक कार्योंकी उत्पत्ति क्यों न हो जायगी। क्योंकि नित्य भी उस ही प्रकार एक स्वभाव वाला बन जायगा। जैसे कि क्षणिक पक्षमें क्षणवर्ती एक कारणको एक स्वभाव वाला मान लिया गया है।

सर्वथा नित्यपक्षकी भांति सर्वथा क्षणिकपक्षमें भी उत्पत्तिके नामकी असंगतता— अब यहाँ क्षणिकवादी शंका करते हैं कि हे स्याद्वादी जनो! नित्यपक्षकी उत्पत्तिका ही तो नाम कैसे बन सकता है? उत्तरमें कहते हैं कि इसी प्रकार प्रश्न क्षणिकपक्षमें भी उठाया जा सकता है, क्योंकि सर्वथा सत् अथवा सर्वथा असत् इन दोनों पक्षोंमें अर्थक्रिया याने उत्पत्तिका नाम नहीं बन सकता है। सर्वथा सत् अर्थात् नित्य पदार्थमें उत्पत्तिका नाम तो यों नहीं बनता कि वह तो अनादि अनन्त सत् ही है, जैसे कि आत्मा अनादि अनन्त सत् है तो उसकी उत्पत्तिकी बात तो नहीं बनती। और सर्वथा असत् पक्षमें अर्थात् क्षणिकपक्षमें कि कुछ न था और सत् बन गया ऐसे सर्वथा असत् पक्षमें भी उत्पत्तिका नाम नहीं बनता। जैसे आकाश फूल असत् है तो उसकी उत्पत्तिका नाम कैसे बन सकता है। अतः नित्य कैसे उत्पन्न होगा सर्वथा सत् होनेसे निष्पन्नकी तरह, याने आत्माकी तरह। यह प्रश्न तो उठा दिया जाय और

यह प्रश्न न उत्पन्न हो कि क्षणिक भी कैसे उत्पन्न हो सकता है, सर्वथा असत् होनेसे, आकाश पुष्पकी तरह, यह तो केवल पक्षपात मात्र है सर्वथा नित्य पक्षमें भी उत्पत्ति का नाम नहीं बन सकता और सर्वथा क्षणिक पक्षमें भी उत्पत्तिका नाम नहीं बन सकता जो नित्य है उसमें सुख दुःख आदिक अनेक गुणान्तरोंको स्वीकार करना क्रम से प्राप्त करने वाले उन सुख दुःखादिको परिणमने वालेके किस तरह विरोध हो जायगा। अर्थात् विरुद्ध नहीं हो सकता। सत् है, नित्य हैं लेकिन वह क्रम क्रमसे सुख दुःखादिक अनेक गुणोंको वह प्राप्त कर रहा है। फिर उसमें उत्पत्तिका, अर्थक्रियाका क्या विरोध है। पर्यायकी ही तो उत्पत्ति बतायी जा रही है।

नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया माननेपर एकत्वके विरोधका शंकाकार द्वारा विवरण – शंकाकार कहते हैं कि देखिये परिणमनहार उस नित्यमें एकत्वका विरोध आ जाता है। वह नित्य यदि उन गुणान्तरोंको ग्रहण कर रहा है तो अब वह एक कैसे रह सकेगा? वह नित्य आत्मादि पदार्थ गुणान्तरोंके ग्रहणको जैसे एक ज्ञानसे अन्य ज्ञानके सद्भावका करना या सुख दुःखादिकका ग्रहण करना इन सब गुणान्तरोंके ग्रहणको यदि क्रमसे अनुभवता है तो यह बताओ कि वह नित्य आत्मादिक पदार्थ गुणान्तरोंके आधानको क्या एक स्वभावसे अनुभवता है या अनेक स्वभावसे अनुभवता है? यहाँ यह प्रश्न किया जा रहा है कि नित्य पदार्थ यदि अनेक गुणोंको ग्रहण कर रहा है तो वह क्रमसे ग्रहण कर रहा है या अक्रमसे ग्रहण कर रहा? क्रमसे ग्रहण कर रहा, ऐसा पक्ष स्वीकार करनेपर दो विकल्प किए जा रहे हैं कि वे नित्य आत्मादि पदार्थ गुणान्तरोंको क्रमसे जो अनुभव रहे है सो क्या एक स्वभावसे अनुभव रहे हैं या अनेक स्वभावसे? यदि कहो कि वे नित्य आत्मादिक पदार्थ ज्ञानान्तर, सुख, दुःख आदिक अनेक गुणोंको एक स्वभावसे अनुभवते हैं तब तो उन आत्मादिक नित्य पदार्थोंको एक स्वभाव माननेकी आपत्ति आ जायगी। तब फिर अनेक गुण तो न रहेंगे। और एक स्वभावसे अनुभवनेपर एक स्वभावताकी बात होनेसे फिर नित्य पदार्थ निर्हेतुक बन जायेंगे अर्थात् वे किसीके भी कारण नहीं होंगे। फिर गुणान्तरोंके अनुभव करनेका नियम नहीं बन सकता है। एक स्वभावसे गुणान्तर यदि उत्पन्न हो गए तब तो वे ज्ञान, सुख दुःखादिक अनेक न रहेंगे, क्योंकि अनुभवन ग्रहण परिणमन तो एक स्वभावसे हो रहा है। यदि कहो कि अनेक स्वभावसे उसका अनुभव होता है तब नित्य पदार्थमें उस आत्मामें एक स्वभावता कैसे रहेगी। अनेक स्वभावोंका उस नित्य पदार्थमें भेद होनेसे उस नित्यको एकरूप मान लेनेकी बात कहो तो इसका अनेक स्वभाव ही कैसे रहेगा? यदि कहो कि अनेक स्वभावका उस नित्य पदार्थमें सम्बन्ध है तो उस सम्बन्धकी कल्पनासे सम्बन्ध भी नित्य स्वभावके द्वारा गुणान्तरों के ग्रहण करनेके अनुभवका कारण होता है। तो क्या एक स्वभावसे होता है या अनेक स्वभावसे होता है। इस तरह पूर्ववत प्रश्न और अनवस्था दोष आयगा। इस कारण नित्य पदार्थमें उत्पत्ति माननेपर या गुणान्तरोंका ग्रहण क्रमसे माननेपर

एकत्वका विरोध हो जायगा। अब वह नित्य पदार्थ एक न रह सका और एक साथ गुणान्तरोंका ग्रहण माननेपर फिर दूसरे समयमें कार्य न रहेगा, और शून्यताका दोष आ जायगा।

गुणोंन्तरोंके आधानमें एकस्वभाव या अनेक स्वभाव आदि विकल्पों की ज्ञानक्षणमें भी उत्पत्ति होनेसे क्षणिकवादमेंभी कर्मादिकी अनुपपत्ति— उक्त शंकाके समाधानमें कहते है कि ऐसे शंकाकार केवल दूषणाभासके ही कहने वाले हैं। क्योंकि शंकाकारने जो परपक्षका दूषण बताया है वह दूषण शंकाकारके पक्षमें भी समान बैठता है। स्वयं क्षणिकवादियोंके द्वारा माना गया जो एक ज्ञान है उस ज्ञानमें ग्राह्याकार और ग्राहकाकार मानना यह क्या एकको अनेक स्वभावात्मक नहीं माना जा रहा है। सो उक्त प्रकार जो शंका करे कि एकमें अनेकका आधान एक स्वभावसे होता है या अनेक स्वभावसे ? सो इसी तरहसे तो इस ग्राह्य और ग्राहकाकारकी नानारूपता भी एक ज्ञानमें नहीं बन सकती। क्योंकि जैसे जैसे प्रश्न शंकाकारने नित्य पक्षमें किये हैं वे ही प्रश्न इस चित्रज्ञानके सम्बन्धमें भी हो सकते हैं। अथवा चित्रज्ञानकी भी बात छोड़िये, ज्ञान स्वयं ग्राहक है और उसमें ग्राह्याकार झलकता है। तो उनसे पूछा जा सकता है कि वह एक ज्ञान जो नानारूपताको ग्रहण करता है सो क्या एक स्वभावसे करता है या अनेक स्वभावसे करता है ? एक स्वभावसे करे तब तो ज्ञान एक स्वभाव ही रह जायेगा। वहाँ ग्राह्याकार और ग्राहकाकार ये भेद न टिक सकेंगे। यदि वह अनेक स्वभावसे ग्राह्याकार व ग्राहकाकर को ग्रहण करता है तो वह ज्ञान अनेक रूप बन जायगा तथा वे अनेक स्वभाव उस एक से भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? ऐसा प्रश्न किया जानेपर अनेक स्वभाव एकान्तवादमें सिद्ध नहीं होते। सो वे अनेक ही कहलायेगे। यदि क्षणवर्ती ज्ञानके ग्राह्य और ग्राहकाकारकी विश्वरूपता व माननेकी बात कहे कोई तो माननेसे तो वस्तुस्वरूप नहीं बनता। सम्विदित ज्ञानमें, प्रत्यक्ष ज्ञानमें ग्राह्याकार और ग्राहकाकारके विवेकको अर्थात् उनकी अलग-अलग रूपताको धारण करने वाले ज्ञानमें अपने आप यह प्राप्त हो जाता है कि उनमें ग्राह्याकार भी है और ग्राहकाकार भी है। इसका तात्पर्य यह है कि कदाचित् क्षणिकवादी यह कहें कि इस एक ज्ञानमें ग्राह्याकार और ग्राहकाकार रूप विश्वरूपता नहीं है। वह तो क्षणिक है, एक समयकी सत्ता वाला है. हम ज्ञानमें ग्राह्य और ग्राहकाकारको न मानेंगे, उस मन्तव्यके सम्बंधमें यह बात दिखाई जा रही है कि अपने निजमें न माननेकी बात नहीं चल सकती है। यदि कोई ज्ञान है तो ज्ञानका अर्थ जानन है। उस जाननका भाव क्या रहेगा. परोक्षभूत ग्राह्याकार और ग्राहकाकारके भेदको वह धारण किए हुए होगा तब ही उसमें सम्वेदनपना आयेगा। चूंकि वह जानता है अतएव जानने वाला और जाननेमें आया हो कुछ ये दो बातें तो अपने आप सिद्ध होती ही हैं।

प्रत्यक्षपरोक्षाकाररूपसे भी ज्ञानमें अनेकरूपता की सिद्धि—ज्ञानक

अनेकस्वभावताके सम्बन्धमें दूसरी बात यह भी समझिये कि एक सम्वेदनमें प्रत्यक्ष और परोक्षाकार भी बने हुए हैं। इससे एक बातमें विश्वरूपताको सिद्धि हो जाती है। जो भी सम्वेदन है वह अपने आपके लिए तो प्रत्यक्ष है क्योंकि ज्ञानमय स्वयं पदार्थ है। और, जो कुछ जाना जा रहा है वह अपने लिये जाननेकी बात स्पष्ट है अतएव उस ज्ञानमें प्रत्यक्षाकार प्रसिद्ध है। वह ज्ञान जिनको जानता है वे हैं परोक्षभूत। तो परोक्षाकार भी उस सम्वेदनमें पड़ा हुआ है। यों सम्वेदनमें विश्वरूपता सिद्ध है। तो देखिये एक ज्ञान नानारूप बन रहा है। क्षणिकवादमें भी तो एककी नानारूपताका विरोध नहीं कर सकते। और, इसी नीतिके अनुसार एक नित्य पदार्थ अनेक परिणतियोंको धारण करता रहे इसमें कोई विरोध नहीं आता। शंकाकार कहते हैं कि देखिये सम्वेदनमें संवितके रूपसे अर्थात् मात्र जाननके रूपसे तो प्रत्यक्षपना ही है और ग्राह्याकार व ग्राहकाकारसे पृथक होनेरूपसे भी सम्वेदनमें प्रत्यक्षता है वहाँ परोक्षता आती ही नहीं है जिससे कि उस सम्वेनको नानारूप बताया जाय और जैसा कि नित्यपक्षमें आक्षेप किया गया है उस प्रकार इस सम्वेदन ज्ञानमें भी आक्षेप किया जाय, प्रश्न किया जाय यह बात नहीं बनती है। क्योंकि जब सम्वेदन एक प्रत्यक्षरूप ही है तो उसमें ये प्रश्न नहीं उठ सकते कि वे ज्ञानाद्वैत क्या एकस्वभावसे ग्राह्य ग्राहकाकारको स्वीकार करते हैं या अनेक स्वभावसे उन आकारोंको स्वीकार करते हैं ? ऐसा प्रश्न तो तब होता जब सम्वेदनमें नानारूप होते। उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि सम्वेदनको सर्वथा एकरूप बताना युक्त नहीं है। क्योंकि ग्राह्य ग्राहकाकारसे रहित ज्ञानका एक बार भी प्रतिभास नहीं होता। अथवा निर्विशेष जब हो जायगा ज्ञान तो उसका प्रतिभास हो ही न सकेगा। जैसे ब्रह्माद्वैत निर्विशेष है। वहाँ ऐसा सामान्यद्वैत माना गया है कि वहाँ कुछ विशेषण ही नहीं दिया जा सकता। तो ऐसे निर्विशेष ब्रह्माद्वैतका प्रतिभास नहीं होता। इसी प्रकार यदि निर्विशेष ज्ञान माना जाय, उसमें ग्राह्याकार ग्राहकाकार न माना जाय तो ऐसे निर्विशेष ज्ञानाद्वैतका कभी प्रतिभास ही नहीं हो सकता। सर्वदा ग्राह्याकारसे व्याप्त ही सम्वेदनका अनुभव हुआ करता है। ज्ञान हुआ है तो उसमें जानने वाला है कुछ और जाननेमें आया है कुछ, ये दो रूप सबको विदित होते हैं। तो जिस कारणसे कि ग्राह्य और ग्राहकाकारसे पृथकरूपसे भी सम्वेदनकी प्रत्यक्षता सम्भव नहीं है तब सम्वेदन एक और अनेकरूप है, वह प्रत्यक्षाकार और परोक्षाकारको धारण करने वाला है यह रहस्य स्वसम्वेदनके स्वरूपको समझनेसे स्वयं ही सिद्ध हो जाता है।

शून्यरूप और संविद्रूपमें विरोध होनेसे निर्विशेष ज्ञानकी सिद्धिका अभाव—यदि ज्ञान ग्राह्याकार और ग्राहकाकारसे रहित होता हुआ एक मात्र ही निर्विशेष प्रत्यक्षाकारको धारण कर लेगा तो वहाँ फिर ज्ञानपनेकी बात नहीं कह सकते। क्योंकि इस हटमें जिस तरह ज्ञानका स्वरूप माना है एक शून्यवत् सो शून्यका और ज्ञानका परस्परमें विरोध है। जिस ज्ञानमें प्रत्यक्षाकार, परोक्षाकार ग्राह्याकार,

कुछ नहीं है वह तो एक शून्य जैसा मंतव्य है। फिर वहाँ ज्ञानकी बात कहाँ रही ? और यदि ज्ञानकी बात रहती है तो ये सर्वाकार मानने ही पड़ेंगे। ऐसे प्रत्यक्षाकार और परोक्षाकारको धारण करता हुआ वह ज्ञान अनेकान्तात्मक यह बात सामर्थ्यसे प्राप्त है सिद्ध है, फिर भी यदि उसे नहीं माना जा रहा है तो शून्यवादका प्रसंग आता है। और जब शून्यवादकी वार्ता आती है तो ज्ञानाद्वैत माना या ज्ञानकी बातको मानना विरोधको प्राप्त होता है। देखिये—ज्ञानके अभावका नाम है शून्य और ज्ञानके भावका नाम है सम्वित् चित। इन दोनोंका स्वरूप बिल्कुल न्यारा-न्यारा है। वे एक जगह नहीं ठहर सकते। उनका परस्परमें विरोध है। क्षणिकवादी लोग सम्वित् स्वरूपको भी मानते और शून्यवाद उसमें उत्पन्न कराये, ये दो बातें एक साथ नहीं बन सकती हैं शून्यका अर्थ है जो ग्राह्याकार और ग्राहकाकारसे रहित हो उसको सम्वेदन मात्र वर्णन करने वाले क्षणिकवादियोंके यहाँ फिर सम्वेदन मात्रकी उत्पत्ति नहीं बनती और फिर अपनी कल्पनासे माने गए ज्ञान मात्रको स्वीकार करने वाले क्षणिकवादी उसे ज्ञानमात्र सिद्ध नहीं कर सकते। बात क्या है—कि यदि उस सम्वेदन की जानकारी मात्र भी स्वीकार न करें किन्तु वह असत् है इस प्रकारसे वर्णन करें तो उसके सम्वित् ज्ञान सिद्ध नहीं होता, इसी कारण शून्यमें सम्वित्में परस्पर विरोध है। यों स्वयं क्षणिकवादीका अभिमत निराकृत हो जाता है। जब सर्वथा शून्यवादमें और सम्वित अद्वैतमें प्रत्यक्षाकार, परोक्षाकार अथवा नानारूपताका सद्भाव प्रकृत प्रश्नों को हटानेमें कारणभूत नहीं बनता यह समर्थित किया गया तब ये योगाचार अथवा सौत्रांतिक याने केवल अंतस्तत्त्वको मानने वाले, ज्ञानमात्रको मानने वाले क्षणिकवादी और ज्ञानतत्त्व और अर्थतत्त्व दोनोंको क्षणिक मानने वाला सौत्रांतिक ये दोनों ही क्षणिकवादी सर्वथा शून्य और एक ज्ञानमात्रको न चाहते हुए भी क्षणिक कारणको अपनी सत्तामें कार्य करने वाला मानते हुए भी क्रमसे उत्पत्तिको प्रमाणित नहीं कर सकते हैं। अन्यथा सारे संसारमें एक ही समयमें सब कार्य हो जानेका प्रसंग आता है। अतः यह सिद्ध है कि न तो सर्वथा नित्यमें कार्यकी उत्पत्ति बन सकती है और न सर्वथा अनित्यमें कार्यकी उत्पत्ति बन सकती है। और, जब अर्थ क्रिया न बनी तब पुण्य कर्म, पापकर्म, परलोकादिक कुछ सिद्ध नहीं हो सकते है। यों ये एकान्तवादी अनेकांतके विरोधी होनेसे स्वयं अपने आपके विरोधी हो जाते हैं।

क्षणिकवादमें कर्मोपपत्तिकी असिद्धि और असिद्धि निवारणमें शंकाकारका प्रयास—यहाँ योगाचार क्षणिकवादी तो सर्वथाशून्य नहीं मानते, क्योंकि उनका सिद्धान्त है अन्तस्तत्त्वका। अर्थात् ज्ञान क्षणमात्र तत्त्व है। जो कुछ है जगतमें वह केवल ज्ञान ही ज्ञान है। और, सौत्रांतिक क्षणिकवादी ज्ञानाद्वैत नहीं मानते। उनका मंतव्य है कि ज्ञान तत्त्व भी है और बाह्य अर्थ तत्त्व भी है। किन्तु है सब क्षणिक अर्थात् एक क्षणको ही अपनी सत्ता रखता है। पश्चात् असत् हो जाता है। तो इस तरह सर्वथा शून्य और सम्वित अद्वैत न मानते हुए ये कुछ मानना चाहते हैं

तो है ऐसी पद्धति कि कार्य उत्पन्न होते रहें। लेकिन ये कारणको मानते हैं क्षणवर्ती और अपने ही क्षणमें, अपनी ही सत्ताके समयमें रहते हुए कारण कार्यको करता है ऐसा मानते हैं तो इस मंतव्यमें कार्योंके क्रमसे उत्पत्ति होती है, यह बात सिद्ध नहीं बनती। और यदि क्षणवर्ती कारण अपनी ही सत्तामें रहते हुए कार्योंको उत्पन्न कर लेगा तो सारे संसारके कार्योंका उस एक क्षणमें ही उत्पन्न होना बन जायगा। यों फिर शून्यता भी हो जायगी। यह बात सुनकर शंकाकार कहते हैं कि कारण तो हमारा यद्यपि क्षणिक है लेकिन वह कालान्तरमें कार्यको करता है अपने क्षणमें कार्य को नहीं करता। जैसे कि तीसरे समयमें जो ज्ञानक्षण अथवा अर्थक्षण है वह चौथे समयके ज्ञानक्षण और अर्थक्षणरूप कार्यको किया करता है। इस कारण यह दोष न आयगा कि क्रमसे उत्पत्ति न बनेगी।

क्षणिक पदार्थकी कालान्तरमें कार्यक्षमताके अभावका प्रतिपादन— उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जो लोग ऐसा मानते हैं कि क्षणवर्ती भी कारण कार्यको करता है अगले समयमें तो उनसे यह पूछा जाता है कि वह क्षणिक कारण कार्यक्षणके समयमें प्राप्त होकर कार्यको करता है या उत्तरक्षणमें, कार्यकालमें प्राप्त होकर कारणकार्यको करता है। यदि कहा जाय की कार्यकालमें प्राप्त होनेपर कारण कार्यको करता है तो ऐसा माननेमें क्षण भंगके सिद्धान्तका भंग हो जाता है। लो अब यह कारण अपने कालमें भी था और कार्यकालमें भी पहुँच गया। अब एक समयवर्ती कारण तो न रहा। यों क्षणिक सिद्धान्तका घात हो जाता है। यदि कहो कि कारण कार्यकालमें प्राप्त न होकर कार्य कालमें याने कालान्तरमें कार्यको कर देता है ऐसा माननेपर मिथ्या कल्पनाकी बात आती है और इस कारण जैसे क्षणिकवादी कूटस्थ नित्यमें मिथ्या कल्पना वाला दोष बताकर नित्यवादका निराकरण करते हैं उसी तरह यहां भी दोष नहीं आता, कोई अतिशयकी बात नहीं बनती। जैसे कि नित्य एकान्तवादी ऐसा मानते हैं कि कूटस्थ सर्वथा नित्य पदार्थ अपरिणामी है सो वह न क्रमसे न एक साथ अर्थक्रियामें समर्थ है तो किसी भी प्रकार अर्थक्रियामें असमर्थ रहने वाला भी सर्वथा नित्य कूटस्थ अपरि-णामी पदार्थ मिथ्या कल्पनासे क्रम और एक साथ आ लदने वाले कार्योंकी परम्पराओं को करते हैं। तो जैसे इन नित्य एकान्तवादियोंने मिथ्या कल्पना द्वारा कार्यको करने वाला कूटस्थ मान लिया है इसी प्रकार क्षणिकवादियोंने भी ऐसा स्वीकार कर लिया कि क्षणवर्ती कारण अपनी सत्ताके क्षणसे पहिले और पीछे अर्थ क्रिया करनेमें समर्थ नहीं है क्योंकि वह तो असत् है। कारण अपने क्षणसे पहिले भी असत् है और अपने क्षणके पश्चात् भी असत् है। तो ऐसे वे क्षणवर्ती असत् कारण सर्वथा अर्थक्रिया करने में असमर्थ हैं फिर भी कल्पनासे क्रम और अक्रमसे होने वाले कार्य समूहको रचता है तो व्यलीक कल्पना जैसे नित्य एकान्तवादियोंने मानकर कूटस्थको कार्यकारी माना है इसी प्रकार क्षणिकवादियोंने भी व्यलीक कल्पनासे क्षणवर्ती कारणको कार्य समूहका

रचने वाला मान डाला है। इस प्रकार कूटस्थ सिद्धान्तसे क्षणिकसिद्धान्तमें कोई विशेषता नहीं रहती।

एकान्तवादमें कर्म परलोक व अर्थक्रियाकी अनुपपत्ति होनेसे स्याद्वाद शासनकी अबाधिततामे प्रतिपादनकी सुयुक्तता—जब कि एकान्तवादमें पुण्य, पाप कर्म, परलोकादिकी उपपत्ति नहीं बनतीं अतएव स्वामी समंतभद्राचार्यने ठीक ही कहा है कि जो एकान्तवादके आग्रहसे रक्त हैं ऐसे पुरुषोंके सिद्धान्तमें पुण्य पाप परलोकादिककी उत्पत्ति नहीं बन सकती है। जो एकान्तवाद है, जैसे कि सत् एकान्त, असत् एकान्त और परस्पर निरपेक्ष उभय एकान्त, नित्य एकान्त, अनित्य एकान्त, परस्पर निरपेक्ष उभय एकान्तादिक प्रकारसे जो एकान्तका प्ररूपण करते हैं उनके सिद्धान्तसे पुण्य पाप परलोकादिककी उत्पत्ति असम्भव है। जैसे कि अद्वैत एकान्तादिक मंतव्योंमें पुण्य पाप परलोकादिककी सिद्धि नहीं बनती। सद् एकान्तवाद तो इसका नाम है कि त्रिकाल एकस्वभाव अपरिणामी सत् मानना। असत् एकान्त है क्षणवर्ती पदार्थ मानना या पदार्थ कुछ माना ही नही। उभय एकान्त कहलाया कि एक ही पदार्थमें कुछ अंश नित्य ही रहते हैं। कुछ अंश अनित्य ही रहते हैं। और साथ ही इसमें उसके कुछ अंश जुदे-जुदे निरपेक्ष कर दिए गए हैं। इसी तरह अन्य भी एकान्त हैं। उनमें कर्म परलोकादिककी उपपत्ति नहीं बनती। इस प्रकार जो सर्वथा एकान्तवादी हैं उनका सदेश, उपदेश, कथन प्रत्यक्ष और आगम अनुमान आदिकसे विरुद्ध है अतएव अज्ञान रागादिक दोषोंके आश्रयभूत है। और, जहाँ अज्ञान एवं रागादिक भाव पाये जायें वहाँ आप्तता नहीं बनती। इस कारण हे अरहंत ! तुम ही भगवान हो। सर्वज्ञ हो, वीतराग हो, क्योंकि युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध वचन होनेसे निर्दोष रूपमें आप ही निश्चित किये गए हो।

शासनके व्याख्यानसे पहिले शासनके मूल प्रणेताकी स्तुतिकी युक्तता तत्त्वार्थ महा शास्त्रके रचयिता महामुनि उमास्वामी महाराजने जो उस तत्त्वार्थ महाशास्त्रके प्रारम्भमें मंगलाचरणमें कहा है कि जो मोक्षमार्गके नेता है। कर्म पहाड़ के भेदने वाले हैं और समस्त तत्त्वोंके जानने वाले हैं उनको उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार हो। उनका जो स्तवन किया है वह बिल्कुल ही युक्त है। शास्त्रके प्रारम्भमें ग्रन्थकर्ता उनका स्मरण करता है जिसका सहयोग शास्त्रमें वक्तव्य उपदेशके प्रणयनमें हुआ है। सो अनेकान्त शासनके मूल प्रणेता अरहंत सर्वज्ञदेव हैं जिन्होंने गृहस्थावस्थाको त्यागकर निर्ग्रन्थ मुनिपद धारण कर अन्तरङ्गमें अनादि अनन्त अहेतुक सहजसिद्ध चैतन्यस्वभावकी उपासना की है और इस उपासनाके प्रसादसे कर्मोंका निर्जरण किया है ऐसे महामुनि जब चार घातिया कर्मोंका नाश कर देते है। जब उन्हें अनन्त ज्ञान, दर्शन, अनन्त शक्ति अनन्त आनन्द यह रत्न चतुष्टय प्राप्त हो जाता है तब वे अरहंत कहलाते हैं। ये अरहंत प्रभु अभी शरीर सहित हैं। उनका शरीर

अतिशायी है, स्फटिक मणिकी तरह निर्मल है। धातु उपधातुकी मलिनतासे रहित है। क्षुधा तृषा आदिक सर्व दोष से विमुक्त है ऐसे दिव्य शरीरमें आयु पर्यन्त विराजमान रहने वाले भगवान अरहंतदेवके चार अघातिया कर्म अभी हैं। सो उन कर्मोंमेंसे यथायोग्य प्रकृतिके विपाकसे और भव्य जीवोंके भाग्यसे दिव्य ध्वनिके उपदेश चलते हैं और उस परम्परासे गणधरदेव उसे द्वादशाङ्गमें गूँथते हैं, उससे यह परम्परा चलती है इस कारण शास्त्रके आदिमें प्रणेता संतोंने भगवान अरहंत देवका स्तवन और स्मरण किया है। कल्याणार्थी पुरुषोंको उपदेश ग्रहण करनेके लिए पहिले उसकी परम्परा और मूल प्रणेताका निश्चय कर लेना भी आवश्यक है। जब यह विदित होता है कि इस उपदेशपर चलकर वास्तवमें आत्माने कल्याण प्राप्त किया है तब स्वयंको भी उस उपदेशपर चलनेके लिए सही प्रेरणा मिलती है। इसी नीतिके अनुसार तत्त्वार्थ महाशास्त्रके प्रारम्भमें मोक्षमार्गके नेता वीतराग सर्वज्ञ अरहंत देवको नमस्कार किया है।